# कलकत्ता १९८६

## साहित्य संकलन

# कलकत्ता
# १९८६

सम्पादक
विष्णुकान्त शास्त्री



अप्रस्तुत प्रकाशन, कलकत्ता

कलकत्ता १९८६ : महानगर कलकत्ता के हिन्दी कवि-लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन

सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री

प्रकाशक : अप्रस्तुत प्रकाशन, ५ए, ग्रीक चर्च रो, कलकत्ता-७०००२६

मुद्रक : भागचन्द सुराना, सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स २०५, रवीन्द्र सरणी, कलकत्ता-७

प्रथम संस्करण : १३वीं नवम्बर १९८७

मूल्य : चालीस रुपए

आवरण : खालेद चौधरी

CALCUTTA 1986 : A collection of selected writings of contemporary Hindi writers of Calcutta metropolis

Edited by Prof. VISHNUKANT SHASTRI

## सम्पादकीय

मदन बाबू एक अनोखी हस्ती थे, स्नेही, उदार और साहित्य प्रेमी। काशी की मस्ती और बंगभूमि की भावुकता का मणि कांचन संयोग हो गया था उनमें। छोटों के प्रति उनमें वत्सलता थी, समवयस्कों के प्रति सद्भावना। पारम्परिक पृष्ठभूमि के सद्गुणों की विरासत पाकर भी वे नवीन जीवन मूल्यों के प्रति उन्मुख थे। अर्थशास्त्र में एम० ए० कर कुछ दिनों तक उन्होंने प्राध्यापन किया किन्तु फिर व्यवसाय के क्षेत्र में वे आ गये। क्रमशः अपनी मेहनत और सूझ-बूझ से वे सुप्रतिष्ठित हो गये अपने क्षेत्र में किन्तु उसका रंचमात्र भी गुमान उनके व्यवहार में नहीं झलका। वही उन्मुक्त व्यवहार, वही सहज जीवन। उनका सबसे बड़ा शौक़ था कॉफ़ी हाउस में कलकत्ते के नये साहित्यकों के साथ बैठकबाज़ी करना। शुरू-शुरू में वे खुद भी कुछ लिखते थे किन्तु उन्हें इसका अहसास था कि साहित्यसृजन उनका क्षेत्र नहीं है। वे साहित्यकारों के अकृत्रिम बन्धु थे। उनकी रचनाएँ भी सुनते थे और घरेलू समस्याएँ भी। कितने साहित्यिकों के आड़े वक्त वे काम आये थे, कहना मुश्किल है। ऐसे मदन बाबू जब नहीं रहे तो कलकत्ते के सभी वर्गों के साहित्यिकारों को लगा कि उनका एक स्वजन उनसे बिछड़ गया।

पिछले साल जब बात हुई कि उनकी स्मृति में प्रति वर्ष कलकत्ते के एक हिन्दी साहित्यकार को सम्मानित किया जाये और कलकत्ते के साहित्यकों की रचनाओं का वार्षिक संकलन निकाला जाये तो लगा कि उनकी रुचि और प्रवृत्ति को दृष्टिगत रखते हुए ही यह समुचित निर्णय किया गया है। पिछले वर्ष कलकत्ते के वरिष्ठ हिन्दी कथाकार हर्षनाथजी को सम्मानित कर तथा श्री मनमोहन ठाकौर के सम्पादन में 'कलकत्ता १९८५' का प्रकाशन कर जिस परम्परा का सूत्रपात हुआ था, इस वर्ष उसी की अगली कड़ी के रूप में कलकत्ते के वरिष्ठ गीत धर्मी कवि श्री छविनाथ मिश्र के सम्मान और 'कलकत्ता १९८६' के प्रकाशन की योजना बनी। छविनाथजी की रचनाओं ने हिन्दी काव्य को कई स्तरों पर समृद्ध किया है। गीतकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा अपनी ही उपलब्धियों का अतिक्रमण करती रही। उत्तर छायावादी चेतना को नव-गीत धर्मिता से जोड़ कर वैदिक ऋचाओं के गीतात्मक अनुसृजन में रूपायित कर देना उन्हीं की समर्थ रचना-धर्मिता के लिए संभव था। हम उन्हें सम्मानित करते हुए अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

'कलकत्ता १९८६' का सम्पादन मूल योजना के अनुसार श्रद्धेय कल्याणमलजी लोढ़ा को करना था। उन्हें कुछ आवश्यक कार्यों से जयपुर जाना पड़ा तो मित्रों ने यह उत्तरदायित्व मेरे दुर्बल कन्धों पर ही डाल दिया। अग्रजकल्प ठाकौर साहब और अनुजतुल्य नवल के सहयोग से ही मैं यह काम निभा पाया हूँ। सच तो यही है कि इसकी अच्छाइयाँ उन्हीं दोनों साहित्यमर्मज्ञों के कारण हैं, कमियों के लिए ज़रूर मैं ज़िम्मेदार हूँ।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है कि किसी नगर विशेष को केन्द्र में रखकर ऐसे संकलन कम ही निकले हैं। कुछ बन्धुओं को लगता है कि इसके द्वारा साहित्य को सीमित खाने में समेटा जा रहा है। हम ऐसा नहीं समझते। व्यापक दृष्टि से साहित्य के संकलन निकलते ही रहते हैं। कलकत्ते जैसे प्रबुद्ध नगर में सर्जनारत हिन्दी साहित्यकारों की एक वर्ष विशेष की रचनाओं को एकत्र प्रकाशित करना साहित्य के विशेष देशगत एवं कालगत आस्वाद का सहृदयों को सुयोग देना है। एक ही नगर में एक ही वर्ष में लिखित विविध दृष्टियों, प्रवृत्तियों एवं स्थितियों के साहित्यिकों की रचनाओं में वैविध्य के बावजूद कुछ समान-धर्मिता है कि नहीं, इसकी तलाश अपने में महत्वपूर्ण है। फिर एक ही नगर में रहते हुए भी अपने साहित्यिक मित्रों की रचनाओं को एक साथ पढ़ पाना सबके लिए संभव नहीं हो पाता। अपने स्नेही सुहृदों की रचनाओं को एकत्र पाना साहित्यकारों और साहित्य प्रेमियों के लिए समान रूप से प्रीतिकर अनुभव होगा। बाहरवालों को भी लगेगा कि जिस कलकत्ते ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की पूर्व सूचना दी थी वह आज भी हिन्दी के विकास में कैसा सर्जनात्मक सहयोग दे रहा है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस संकलन की कई रचनाएँ अखिल भारतीय स्तर के संकलन में भी ससम्मान संकलित की जा सकती हैं। अतः विनम्रतापूर्वक किन्तु बिना किसी प्रकार की दीनता के हम यह संकलन साहित्य प्रेमियों को भेंट कर रहे हैं।

इस वर्ष हमने हिन्दी में एक अनूदित रचना भी इसमें रखी है। यदि आपलोगों को यह प्रयास उचित लगा तो अगले वर्ष कुछ और अनूदित रचनाएँ भी संकलित की जा सकेंगी।

हम आभारी हैं उपचार ट्रस्ट के, जिसके उदार सहयोग से यह पूरी योजना संभव हो पा रही है।

**विष्णुकान्त शास्त्री**

कलकत्ता १९८६

## अनुक्रम

### स्मृति शेष



### कविताएँ

## कहानियाँ



## ललित निबन्ध



## आलोचना



दूरभाष : 82350
चौक, लखनऊ-226003
12-8-87

## मदन बाबू

मेरी यह धारणा है कि अनेक शब्दों की चतुरंगिनी सेना बटोर कर भी एक शब्द-बन्धु की परिभाषा का किला नहीं तोड़ा जा सकता। बन्धु शब्द भावनात्मक रूप से अथाह और असीम रत्नाकर होते हुए मर्यादित भी है। स्व० मदनबाबू से मेरी मुलाकातें मुश्किल से सात-आठ बार ही हुई होंगी। फिर भी परिचय के प्रथम क्षण से ही हमारा मन एक दूसरे से ऐसा बँध गया कि लगता था हम पूर्वजन्म के आत्मीय हैं। खुदा बख्शे बहुत सी खूबियाँ थीं मदन बाबू में। मन के उदार, तन के कर्मठ भी। अपने पैतृक कर्म व्यवसाय में उन्नति की, देश-विदेश घूमे, रंगारंग दुनिया देखी मगर अपना मस्ती भरा बनारसी रंग कभी न छोड़ा। दोस्ती करते थे तो उसे निवाहना भी खूब जानते थे। एक बार गाँधीजी ने कहीं पर साहित्यिकों-कलाकारों की सभा में कहा था……'सबसे अच्छी कला है मानव बनना।' हमारे बंधु मदनबाबू भी ऐसे ही कलाकार थे और उनकी अनुपम कलाकृति है साक्षात् श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल। उनके गंभीर ओजस्वी, अध्ययनशील और बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के निर्माण में प्रिय मदनबाबू का योगदान कुछ कम नहीं है। वैसे ही मुझे यह कहने में गर्व का अनुभव हो रहा है कि मदन बाबू की जीवनसंगिनी भी 'मदन मोहन साहित्य सम्मान' की प्रतिष्ठापना करके अपने जीवनसाथी को फिर से व्यवहार जगत् के स्मृति-लोक में उसी प्रकार ले आई हैं जैसे सावित्री सत्यवान को ले आई थी।

बन्धुवर मदनबाबू का यश स्थायी हो, मदन प्रतिभा की गार्हस्थिक और कार्मिक फुलवारियाँ खूब फले-फूलें, यही कामना करता हूँ।

अमृतलाल नागर

*कलकत्ता १९८६ का प्रकाशन*
**उपचार ट्रस्ट**
**फ्लैट नं० ७, २३३/५, आचार्य जगदीशचन्द्र वोस रोड**
**कलकत्ता-७०००२० के अनुदान से संभव हुआ**

## 'कलकत्ता १९८६' के सम्मानित रचनाकार

**शब्द मृगयाः**
आग-आग होती जिजीविषा / **छविनाथ मिश्र**

मैं—
मेरा नाम केवल शब्द नहीं
स्फुरण है आदिम सत्य-संदीपन का
क्षण है, चेतना की फड़कन का
हरिण है वाङ्‌मय अरण्य का
जो निरन्तर
अपनी नाभि के भीतर
गमकते स्वर की तलाश में
भागता है प्रान्तर-प्रान्तर
और जब
किसी वृक्ष के तने से
सटकर खड़े-खड़े
आँखें मूँदे होता है
तब मैं उसके होने की दिशा में होता हूँ

उसकी टोह लेता हूँ
कोई शब्द, संज्ञा, सर्वनाम ओढ़कर
आहट पाकर
पता नहीं —
शब्द या हरिण भागता है
या भागता है कोई सुगन्ध लिखा क्षण

—देखते देखते दृष्टि के
परिदृश्य में शब्द या क्षण
मैं या हरिण
छलाँगें भरता हुआ
गति के छन्द रचता हुआ
अदृयता के अन्तहीन विवर में खो गया

तो क्या
नीले कमल की पंखुड़ियों पर
हिमबिन्दु जैसे ठहरे
शब्द के भीतर से
रोशनी या कविता में आना व्यर्थ है
ज़रूर कोई अर्थ है—
शब्द के केन्द्र में थिरकती तरंगों का
अचीन्हे रंगों का
जो 'मैं' और मेरे नाम के बीच उभरता है
छलाँगें भरता है
तैरता है आँखों में कस्तूरी-गन्ध-सा
ओठों पर छन्द-सा
कविता में रचा-बसा स्वरविद्ध अनाम अविराम जैसा
मैं और मेरे नाम जैसा—
जिससे खुलती रहती है होते रहने की दिशा
दहकती रहती है
शब्द-मृगया के आलोक में
आग-आग होती जिजीविषा ❁

## विष्णुकान्त शास्त्री

### साधारण किन्तु समर्पित व्यक्ति की असाधारण ज्योति-यात्रा

श्री छविनाथ मिश्र न केवल देखने-सुनने में बल्कि चाल-ढाल, व्यवहार, में भी साधारण लगते हैं। वे उन लाखों लोगों में से एक हैं जिन्हें रोटी-रोज़ी की तलाश ने विवश कर दिया 'पौधों के घर से हरियाए मैदानों तक', 'गमक रहा गीतों का केवड़ई अँगनवा' छोड़कर क्रंक्रीटी महानगर में 'रोज़ बस ट्रामों में एक युद्ध जीने की यंत्रणा' सहेजने के लिए। फिर भी यदि वे धुन्ध और अँधेरा ओढ़कर अपने आगे पीछे चलने वाले मुखौटा पहने असंख्य लोगों की भीड़ में खो नहीं गये तो उसका एक मात्र कारण है कविता के प्रति उनका

एकान्त समर्पण। कविता उनके लिए न विलास है, न यश, वैभव, मान, सरमाये की तलाश। कविता उनका अन्तरंग अस्तित्व है इसीलिए अपनी समझ के हाशिए के बीच कविता की संस्कृति की खोज के साथ 'कविता में जीने का सुख' उनके होते रहने का मर्म भी है और मजबूरी भी। बड़ी ईमानदारी के साथ उन्होंने कहा है, 'सुनो कविता······जब कभी भी/ तुम मेरे भीतर उतरने लगती हो। 'मैं आकाश होने लगता हूँ।' कोई आश्चर्य नहीं कि तमाम प्रतिकूलताओं से जूझने की प्रेरणा जुगाये यह अनुभव और वे कह उठें 'मुझे जीना है···। रोटी और कविता के बीच दबोची हुई। अपनी रचना के इकलौते आकाश की सुरक्षा के लिए। मुझे लड़ना है। एड़ी से चोटी तक उगते हुए। खून और पसीने के लिए।' कविता की उँगली पकड़े एक साधारण व्यक्ति की यह संकल्पबद्ध जिजीविषा अपने समर्पण की निश्छलता के कारण एक असाधारण ज्योति-यात्रा बन गयी है।

यात्रा के आरम्भ में कवि का आत्मीयतापूर्ण नाता था ग्राम प्रकृति से। सूरज को अपना सखा मान कर ही उन्होंने कहा होगा 'लौटा है किरणों की डोरी लपेट कर दिन भर का थका-थका व्योम का खिलाड़ी।' चाँद और प्यार उन्हें पर्यायवाची से लगते होंगे अन्यथा वे कैसे कह पाते—'चाँद की किरण-किरण परसे, प्यार बरसे।' तब उन्हें लगता था, 'ज़िन्दगी है फूल, प्रेम फूल का पराग है।' 'मिट्टी का संजीवी संदली सपनवा' देखते हुए ही उन्होंने अपनी प्रिया से पूछा होगा, 'कौन हो तुम जो कि मेरे प्राण के नीलाभ अम्बर में युगों से। चमकती हो ज्योति बनकर तुम अचानक प्रीति की सौदामिनी सी।' ये सहज स्वच्छन्दता से भरे उद्‌गार कवि व्यक्तित्व की ऋजुता के प्रमाण हैं। इन गीतों में 'मुट्ठी भर माटी' और 'अँजुरी भर आकाश' घुलमिल कर एक हो गये से लगते हैं। इनकी सहज आवेगमयता वैयक्तिक होकर भी सर्वजनीनता को समेटे हुए है।

'समय-दंश' से विह्वल होकर छविनाथ मिश्र ग्राम से महानगर कलकत्ता आये। आधुनिकता के कठोर स्वार्थपरक रूप के निर्मम साक्षात्कार ने एक ओर उनके कुछ भोले सपनों को तोड़ा तो दूसरी ओर उन्हें यथार्थ के प्रति सचेत भी बनाया। उन्हें लगा कि जीवन में केवल प्यार ही नहीं संघर्ष भी है। कपट, पाखंड, अनाचार, अत्याचार भी है। प्रवंचना के तीखे अहसास से उनका कवि कह उठा, 'हमारे हिस्से का समय, हमारे कुछ आत्मीय नुमाइन्दों ने हड़प लिया हैं। हमने पढ़ लिया है पूरा का पूरा वसीयतनामा। हम किसी के हिस्से में नहीं हैं।' उनकी समझदारी की प्रौढ़ता का सबूत ही मानता हूँ।

लोकतंत्र के वर्त्तमान रूप के प्रति उनके अविश्वास को, 'लोकतंत्र सिर्फ़ एक नाम है/अँधेरे से अँधेरा काटने का संसदीय आयाम है !' क्रान्ति के नाम पर भी उसे कम प्रवंचना यहाँ नहीं दिखी। उसकी स्वीकृति है, 'मुट्ठियों में क्रान्ति / दिमाग़ों में अजीब किस्म की भ्रान्ति उगाते हुए / लोगों से बहुत बार टकरा गया हूँ।' उनका विवेक, 'मुहावरों में समय को जीना / कतई पसन्द नहीं करता।' अतः वे किसी की सिखाई बोली को नहीं दुहराना चाहते। अपने इन विषम अनुभवों के बावजूद वे भूलते नहीं, 'वादा किया था बहुत पहले मैंने / अपनी कविता को अँधेरे की पीठ में चुभा कर / रोशनी की बाँहों में समय को आँटने का / और कविता में ही / रोशनी की तलाश के लिए / थोड़ा थोड़ा सन्नाटा बाँटने का / स्पष्ट है कि महानगरीय बोध की तमाम विसंगतियों, प्रतिकूलताओं, यंत्रणाओं के बावजूद कवि निष्ठापूर्वक अपनी ज्योति-यात्रा को अक्षुण्ण रख पाया है।

गाँव में उन्हें लगता था कि उनके 'अँजुरी भर आकाश' में भी सब का साँझा है किन्तु महानगर ने सिखाया कि 'टुकड़ों में बँटा आकाश' सब का हो सके, यह सहज संभव नहीं। समय के चिटखने का भी उन्हें संशय होता है क्योंकि उनकी धारणा है 'एक संकट से उबर कर एक संकट से घिरा सा / 'युग बहुत कुछ लग रहा है / टूट कर औंधा गिरा सा / बांगला देश, वियतनाम आदि पर लिखते समय कवि को प्रतीत होता है कि उसीका एक अंश है वह सब, जो अत्याचारित होकर भी अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत है। 'चीखता सिवान पार का पलाशवन / फूलों को भून रही है मशीनगन' रोशनी विरासत में मिली सिर्फ़ अन्धों को' जैसी तीखी पंक्तियाँ कवि की सहानुभूति किस के साथ है इसे स्पष्ट कर देती हैं। सामाजिक कर्त्तव्य के प्रति सजग कवि का व्यक्ति-मन अब भी लोक गीतों के स्वरों में थरथराती हुई यादों से व्यथित हो उठता है पर यथार्थ के दबाव में वह स्वीकार करता है, 'किन्तु सब लगते पराए / गाँव, घर, सीवान, जंगल और रक्तपलाश।' जो बात व्यक्तिगत धरातल पर संभव नहीं है उसे वे सामूहिक प्रयास से सब के लिए संभव बनाने का संकल्प करते हैं। उनका आह्वान है, 'आओ, हम खुल कर कुछ अपने सम्बन्ध लिखें / धरती से नाता है, माटी की गन्ध लिखें।' रोशनी उगाने की भाषा वे उससे सीखना चाहते हैं 'जिसने जल जल कर जीवन भर / उजला उजला दर्द जिया है।' माटी के लोंदे से लौ उठाने तक की माटी के दिये की अलख छन्द-लय की दूरी तै करने वाली पूरी 'ज्योति यात्रा' कवि को अपने आदर्श सरीखी लगती है।

इसी मनःस्थिति में उन्हें प्रखर चिन्तक श्रीयुत अनिर्वाण की वेद मीमांसा का अवलम्बन प्राप्त होता है और उनकी चेतना इतिहास की अनगढ़ता को तराश कर अतीत को भविष्य से जोड़ देना चाहती है। उन्हें लगता है जड़वाद की धुन्ध के गहरे अँधेरे में ज्ञान, प्रेम और करुणा की ज्योति खो सी गयी है। इसीलिए संत्रास और संकट ने जगत् को ग्रस लिया है। वैदिक ऋचाओं में निहित 'ऋत-सत्' के ताप प्रकाश को आज की काव्य भाषा में व्यक्त करने के उनके व्रत ने 'ऋचा-गीत' रचकर 'कविता में जीने का सुख' प्राप्त करने की अनुभूति उनमें जगायी। वैदिक ऋचाओं के उनके गीतिभाष्य इतने जीवन्त और कलात्मक हैं कि बिलकुल मौलिक जैसे लगते हैं। 'हम सब का जीवन मधुमय हो' 'सारी नदियाँ मधु बिखराएँ', 'हवा चले मधुवन्ती।' अथवा 'श्रद्धा से ही अग्नि प्रज्वलित', 'श्रद्धा सब का मूल है। श्रद्धा ऊषा के माथे का एक भागवत फूल है' जैसे गीत मूल के प्रति निष्ठावान् होते हुए भी उनके सुशोभन पल्लवित रूप हैं। इन गीतों में छविनाथ जी ने उस ऊँचाई को छुआ है जो किसी भी कवि को कृतकृत्यता प्रदान करने में समर्थ है।

केवल गीतिभाष्यों में नहीं उनकी इधर की मौलिक कविताओं में भी आत्म-संस्कृति की यह चेतना झिलमिला उठी है। उनके अनुसार वस्तुस्थिति यदि एक तरफ़ यह है कि 'तमाम बेपनाह, बेगुनाह लोगों की गर्दन पर / किसी हत्यारे की कटार जैसा आकाश झुक गया है' तो दूसरी तरफ़ यह भी है कि दुश्मन केवल बाहर ही नहीं, अपने भीतर भी है और इसलिए बहुत ज़रूरी है कि हम 'अपने अपने दिमागों में छिपे असली दुश्मन की तलाश करें', भूखा प्यासा केवल मानव का शरीर ही नहीं, उसकी अन्तरात्मा भी है क्योंकि परायेपन के 'अँधेरे में···/आदमी की शिनाख्त मुश्किल है।' 'वह रोशनी के अभाव में / बेबस है, बुज़ादिल है / दरअसल रोशनी भूख है, प्यास है। रोशनी अपनेपन का एहसास है'। छविनाथ जी के अनुसार 'उसी चिन्मय प्रत्यक्ष' 'को मानुषीवाक् के माध्यम से जीवन में जानना और फिर उदात्त चेतना भूमि पर उतार कर अँधेरा तोड़ने और रोशनी में जीने का नाम वेद-कविता है।' इसी ज्योतिर्मयी कविता तक पहुँचने की छविनाथ जी की काव्य साधना वस्तुतः ज्योति यात्रा है। हमारी मंगल कामना है कि वे अपने लक्ष्य तक पहुँचें और सिद्ध करें :

कविता जब किसी के पक्ष में/या किसी के खिलाफ़/अपनी पूरी अस्मिता के साथ खड़ी होती है/तब वह/ईश्वर से भी बड़ी होती है/ ●

## इन्दु जोशी

### छन्द पुरुष कविछविनाथ मिश्र—मेरी दृष्टि में

कवि छविनाथ मिश्र को मैंने उनकी रचनाओं के अध्ययन से छन्द पुरुष के रूप में स्वीकारा है। वैदिक साहित्य में 'छन्द-पुरुष' शब्द का प्रयोग सूर्य के अर्थ में हुआ है। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा अजस्र प्रकाश विकीरित होता है और उसके संस्पर्श से एक ताज़गी का, स्फूर्ति का संचार होता है उसी प्रकार कवि छविनाथ मिश्र की काव्य-कृतियों के मनन से एक नई आस्था, एक नई चेतना प्राप्त होती है। छठवें दशक के अधिकांश साहित्य ने हमारे शताब्दियों के मानवीय मूल्यों, इतिहास-बोध, भौगोलिक विशिष्टताओं एवं काव्य परम्पराओं को झकझोर दिया था जिसमें भारतीय जीवंत मूल्यों और जातीय परम्परा के उपयोगी तत्वों के अस्वीकार की प्रक्रिया प्रमुख थी। छविनाथ मिश्र ऐसी स्थिति में एक अदद कलम को हथियार के नाम पर लेकर राष्ट्रीय चिंतन और सामाजिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक रचनाधर्मिता के प्रश्न का उत्तर बनकर उपस्थित हुए।

मेरे इर्द-गिर्द/खड़ी है हथियारों से लैस/लहूफरोशों की जमात दर जमात/
हथियारों के नाम पर है/सिर्फ़ एक अदद कलम/

कलम में अन्तर्निहित शक्ति की जो पहचान इन पंक्तियों में रेखांकित हैं उसको जानने से न केवल दिशाहारा साहित्यकर्मियों में एक सही दिशा का बोध जाग्रत हो सकता है वरन् देश की संस्कृति और जातीय मूल्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टि भी उपलब्ध हो सकती है तथा युगबोध भी उजागर हो सकता है। कलम का सिपाही बनने से किसी कवि की काव्य प्रतिष्ठा को आँच नहीं लगती बल्कि युग-सापेक्ष परिस्थितियों में उसकी कार्य-क्षमता और साहसिक भूमिका का पता चलता है। कवि यदि ऐसा नहीं है उसे कवि कहलाने का गौरव भी नहीं मिलना चाहिये।

छविनाथ मिश्र क्रान्ति की ज़मीन पर खड़े होकर महानगरों में परिव्याप्त अनात्मीय संकट, यांत्रिक दबावों से कुचली जिजीविषा, लोकतांत्रिकता में शोषित मनुष्य, निरर्थकता में चिपटी भौगोलिकता और सिकुड़ी ऐतिहासिकता का विरोध करते हैं। मनुष्य निरन्तर संघर्षों के आघातों को सहते हुए संवेदना रहित हो सकता है। ज़ुल्म और अत्याचार, अन्याय और अपमान के शिकार मनुष्य की अस्मिता और चेतना एक शून्य स्थिति में खुद को ढकेल देती है। आखिर वह कौन सा ऐसा वर्ग है, कौन ऐसे लोग हैं, जो मनुष्य के खिलाफ़ षड़यन्त्र रचते हैं, उसकी क्रियाशीलता पर अंकुश लगाकर मानव को मानव के गौरव से वंचित कर देते हैं। यह प्रश्न हमें एक वार फिर परतन्त्र भारत की यातनाओं के दंश को ताज़ा कर देता है—

ये कौन हैं सारे लोग/जो असंवेदनशीलता की खुरदुरी सतहों पर/हमारी ख़ामोशी का लगातारपन/कुछ और ठोस बना देते हैं/हमारी खिड़कियों/ और रोशनदानों से छनती हुई रोशनी तक को भी/नीलाम कर देते हैं/ ये कौन हैं सारे लोग ?

जैसे-जैसे खामोशी ठोस होती जाती है हमारा मानसिक और शारीरिक ह्रास भी बढ़ता जाता है। तब मनुष्य होने की क्या सार्थकता है ? इसका अनुमान कर ही हम क्यों न अपने दायित्व-बोध को समझें और आततायियों के प्रतिरोधके लिये बुलन्द आवाज़ पैदा कर ऐसे लोगों में दहशत उत्पन्न कर दें।

कवि की कविता यात्रा अँधेरे से उजाले की यात्रा है। निराशावादी चेतना कभी भी सजग चेतना नहीं हो सकती क्योंकि उसे संघर्ष के मूल रहस्य का ज्ञान नहीं रहता। आशावादी वही हो सकता है जो दुर्बोध से दुर्बोध क्षणों में आत्म जागरित सजगता को दुर्बल नहीं होने देता। वह इस गूढ़ रहस्य के प्रति सचेत रहता है कि अन्धकार को पराजित करने से ही प्रकाश से साक्षा-

स्कार संभव है। सूर्य भी अँधेरे से जूझता हैं तभी संसार को एक नई सुबह दे पाता है। जीवन में मिले आपदाओं-यातनाओं के प्रहारों से जूझकर, जुझारू जीवन की कठोरतम घड़ियों का अडिगता से मुकाबला कर, अन्तस् को झकझोर देने वाले कष्टप्रद हलाहल के घूँट को पीकर, विपरीत स्थितियों में भी अपना मार्ग तय कर, विकास को जीवन का एक अपरिहार्य अंग समझने के समर्थक कवि हैं छविनाथ मिश्र। काल के प्रवाह को उलाँघती कविता की अन्तश्चेतना का स्मरण कर वे अपने समानधर्मा कवियों से कहते हैं—

सूर्य उसका छन्द-पुरुष था/और आकाश उसका पिता था/हमारी दहलीज़ों पर ऋचाओं का पहरा था/मंत्रविद्ध समय/कभी नहीं आग का मोहताज था/ अँधेरे के खिलाफ़/हमने पहली बार आवाज़ बुलन्द की थी।

किन्तु आज कवि की अन्तश्चेतना में यह आग निष्कम्प है, बुझी पड़ी है। यह निश्चय ही एक विचारणीय प्रश्न है।

एक समय/यह भी है/आज आग हमारे इर्द-गिर्द निष्कम्प है—बुझी है/ हम उसे हवा में एक लम्बी भीड़ पर/उछाल कर/साबित करना चाहते हैं/ 'यह आग दिखावटी है/

कवि का प्रयोजन नयी जानकारियों के मध्य अपनी संस्कृति के उस पक्ष को उद्घाटित करना है जिसके ताप में उत्तेजना थी, निर्माण का ओज था जिसका प्रभाव बहुत ही गहरा पड़ता था। आज एक बार फिर उसी ताप की आवश्यकता है। यह आग तो हमारी शिराओं में प्रवाहित है केवल हमें यह देखना चाहिये कि शब्दों के भीतर सोई इस आग को कैसे भाषा के ज़रिये हवा दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि छविनाथ मिश्र हमारी पुरातन प्रवृत्ति का अनुकरण करते हैं, या उसकी पुनर्स्थापना के लिये सचेष्ट हैं। दरअसल वह सकारात्मक संस्कृति के पुजारी हैं। कविता को समग्र रूप से समर्पित हैं। कविता की संस्कृति नये उपकरण से संयुक्त कर विकासोन्मुख करना ही उनका अभीष्ट है। वह इसे ऊर्ध्वमुखी स्वरूप देने के पक्षधर हैं—

मुझे जीना है/रोटी और कविता के बीच दबोची हुई/अपनी रचना के इकलौते आकाश की सुरक्षा के लिये/मुझे लड़ना है/एड़ी से चोटी तक उगते हुए/खून और पसीने के लिये/और आग जो अबतक अनलिखी है/

कवि अपने लिये नहीं औरों के लिये भी लड़ने के लिये प्रतिबद्ध है। वास्तव में वह जिस अनलिखी आग को प्रज्ज्वलित करने के लिए सन्नद्ध है उससे हमारा बहुलांश भिज्ञ होते हुए भी अनभिज्ञता का स्वाँग भर रहा है या वह आगे

आकर उसके भार को अपने कंधों पर उठाने में अक्षम है। मनुष्य के भीतर शाश्वत जिजीविषा होती है। जीवन की शाश्वत जिजीविषा के अडिग विश्वासी वे कहते हैं—

एक बार फिर तुम कोई नया संकेत दो/मैं जीवन को नए सिरे से रोप रहा हूँ/

छविनाथ मिश्र ने कविता के साथ गीत भी रचे हैं। जिन लोगों ने छविनाथ मिश्र के पूरे साहित्य को पढ़ा है, वे जानते हैं कि जिस शक्ति और सामर्थ्य से उन्होंने कविता को सही अर्थवत्ता दी या नई कविता का सृजन किया है उसी अनुपात में उन्होंने गीत, नवगीत और लोकगीत भी लिखे हैं। देखा जाय तो गीत उनकी रागात्मक चेतना के आईने हैं जिनमें एक ओर प्रकृति से लेकर प्रिया तक के विविध मोहक रंग और सम्मोहक संवेग प्रतिभासित होते हैं वहीं देश और काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ भी यथार्थ के तीखे वोध में अंकित हैं। साथ ही व्यावसायिक सभ्यता और सत्तोन्मुखी राजनीतिक चतुरता की कुटिलताओं को वे वेबाक भाषा में चित्रित करते हैं :

ज़हरीली गैसों ने मिट्टी की सांस चुगी/खेतों को सूँघ लिया वारूदी वोध ने/
पौधों की जगह कहीं/उर्वर विस्तारों में लाशों पर लाश उगी/

अथवा

गाँवों से नगरों तक भूख से निढाल उगती है भीड़ सिर्फ़ पेट का सवाल/

सत्तासीन तथाकथित लोकनायक जो समाज की आस्था का प्रकाश स्तम्भ वनने का दम भरते हैं किस प्रकार अपने घिनौने आचरण से जन-समाज के मन में अवस्थित आदर्शों और सिद्धान्तों को चकनाचूर कर रहे हैं यह उनके गीतों में कविता के समानान्तर ही अभिनव विम्वों में मुखरित होता है।

इनकी कविता की भाषिक संरचना पर दृष्टिपात करें तो वह भी अनुपम और विलक्षण है। कवि के विम्व-विधान और उपमाओं में नये प्रयोग का निर्वाह मिलता है। विशेषण-प्रयोग में भी वे वेजोड़ हैं।

अस्तु उनकी रचना-धर्मिता के अध्ययन से यही निष्कर्ष मिलता है कि आगत मनुष्य की संभावनाओं को उर्वर और विकसित करने के लिये छविनाथ मिश्र का 'छन्द पुरुष' निरन्तर रचनाकारों और बुद्धिजीवियों का आह्वान करता है—

कलमों से तोड़ें हम अनलिखे अँधेरे को/सुवह के सिवानों में धूप, धान रोप दें/रोशनी उगाने की भाषा छितरा दें हम/छन्दों को प्यार-भरा आसमान सौंप दें। ●

अरुण प्रकाश अवस्थी

## उपलब्धियों के नाम पर

सड़कों पर मत निकलो उड़ती हैं चीलें।
पग-पग पर बिछी हुई जंग लगी कीलें॥

शंकाओं से बोझिल पूरा सीवाना
राजा का बेटा है पूरा दीवाना
कुछ भी कहो, होगा नहीं कुछ आना जाना
हमने भी छोड़ दिया खुद से शरमाना
घोसलों को छोड़ गई आज अबाबीलें।

अब तक की पूंजी है मात्र अविश्वास
साथ नहीं देता अब अपना आकाश
आँखों में प्रश्न-चिन्ह चेहरे अखबार
दल के दल बादल पर चातकी हताश
भ्रम-तृष्णा से वादे कितने चमकीले!

मर गया अनगाए एक देश गीत
सूर्य बाँट रहा अंधकार गजब रीत
राहों पर धुँआ-धुन्ध-धूल के बगूले
वर्तमान गिरवी है सलीब पर अतीत
पाले से पौधों के पात हुए पीले। ●

आलोक शर्मा

## अन्तिम युद्ध

साथियो
अपनी मौत के लिये ज़िन्दा रहने से
कहीं बेहतर है
ज़िन्दा रहने के लिये मर मिटना
इसलिये दोस्तो
अपने हाथों में लगी संगीनें फेंक दो
और खन्दक के बाहर निकल आओ
क्योंकि अब
दुश्मन और हमारे बीच का फासला
मर चुका है
और दुश्मन
हमारे भीतर उतर चुका है

अब हमें बारूद की नहीं
अपने वजूद की ज़रूरत है साथियो
इसलिये तुम
अपने दिमाग की खोल से
अपना सबसे पैना हथियार बाहर निकाल लो
और एक निर्णायक वार करो
उस दुश्मन पर
जिसने हमारी भावभूमि के नीचे
सुरंगें बिछादी हैं
हमारी सम्वेदनाओं के भण्डार में

आग लगा दी है
हमारे आपसी रिश्तों के तमाम पुलों को
ध्वस्त करके रख दिया है
तथा हमारी शिराओं को
उस केन्द्रीय कम्प्यूटर से जोड़ दिया है
जिसमें हमारे चरित्र का
मनचाहा प्रोग्राम फ़ीड किया जाता है

यही वजह है दोस्तो
कि हमारी देश के प्रति वफ़ादारी
हमारी गद्दारी में
हमारी भूख
हमारी चोरी में
और हमारी ईमानदारी
हमारे फ़रेब में बदल जाती है

हमें अपने दुश्मन की इस चाल का पता
तभी चल जाना चाहिये था
जब हमारी भाषा हाँफने लगी थी
और अपने अर्थों को सही ढंग से
न ढो पाने की वजह से
हमारे शब्दों की रीढ़ चरमराने लगी थी
जब हमारे अपने ही हाथ
हमारी गर्दन को
अपनी गिरफ़्त में लेने के लिये मचलने लगे थे
और हमारे पैर
हमारी मर्ज़ी के खिलाफ़
एक दिशाहीन अँधेरे की ओर बढ़ने लगे थे

यह हमारा अन्तिम और निर्णायक युद्ध होगा
साथियो
खबरदार कहीं दुश्मन
उजाले की आड़ लेकर बच न निकले !

# इन्दु जोशी

## प्रतीक्षा

प्रतीक्षा है मुझे
उन बीजों के अंकुरित होने की
जिन्हें रोपा था मैंने बाग में।

उन बीजों के साथ बोया था धैर्य
और बोये थे फलप्रसू संकल्प।

मेरा रक्त सींच रहा है उन्हें
अडिग विश्वास की गर्माहट
उन्हें पहुँचा रही है ताप।

आनेवाले दिन
निश्चित रूप से होंगे गेहूँ के दानों की तरह
लहरीले और चमकीले।

भले ही
अतीत से वर्तमान
सब प्रतीक्षित रहा हो
मैंने देखा है
ठूँठ को भी हरे पत्तों से लदे।

मेरी प्रतीक्षा
मात्र प्रतीक्षा नहीं है। ●

कुसुम जैन

## त्रिकोण फ्रेम

भूत, भविष्य और वर्तमान
की कांटियों से जुड़ा
ज़िन्दगी का एक त्रिकोण फ्रेम
सजी है उसमें
मेरे प्यार !
तुम्हारी तस्वीर ।
और उस पर
कविता बन
लिखी गयी हूँ मैं । ●

# डॉ० चन्द्रदेव सिंह

## गीत

लोगे तो ले लो
है बोल आखिरी।

दुनिया का सबसे ऊँचा
नगाधिराज
एक महासागर
एक महातीर्थराज
राजघाट लोगे ?
या ताजमहल ले लो।
है बोल आखिरी।

ऋषियों की वाणी
एक अद्‌भुत इतिहास
भिन्न-भिन्न धर्म,
जाति, भाषा, विश्वास
गंगा है, जादू है
चाहे तो ले लो।
है बोल आखिरी।

मानव-निर्मिति हो
या प्रकृति ने गढ़ी
हर एक शै है—
नीलाम पर चढ़ी
संसद है, कुर्सियाँ हैं
जिनसे भी खेलो।
है बोल आखिरी।

लोगे तो ले लो
है बोल आखिरी। ●

ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण'

## लिखने की मेज़ पर

फैला होता है काग़ज़
पारदर्शी हो जाती है मेज़
आकाश से झर रही होती है किरणों की लिपि
शिल्पित हो रहे होते हैं शब्द
पिघल रही होती है दीवारें
लहरों पर तैर रही होती है धरती
आँखों में खिल रहे होते हैं इन्द्रधनुष
मानस को मथ रहे होते हैं वक्त के सवाल
अन्तस में मचल रहे होते हैं भविष्य के संकल्प
आँधियों के खिलाफ़ तन रही होती हैं कोपलें
शिराओं में दौड़ रही होती है सृजन की पुलक
स्याही की हर बूँद में उफन रहा होता है सिंधु का उच्छ्वास
होठों से फूट रही होती है कविता
चल रही होती है कलम। ●

## नवल

### वसन्त अगर सिर्फ़ एक मौसम होता

वसन्त अगर सिर्फ़ एक मौसम होता
तो मैं भी गाता नये पत्तों के साथ
नाचता फूलों की ताल पर
और जब बीतता मौसम
मैं भी बीत जाता उसके साथ

वसन्त अगर सिर्फ़ ख़ुशियों का नाम होता
तो मैं भी गाता उमंग में
नाचता चाहों की ताल पर
और जब होता मन के प्रतिकूल
मैं भी ग़र्क़ हो जाता अँधेरे में

वसन्त अगर सिर्फ़ एक शब्द होता
तो मैं भी उछालता उसको जहाँ-तहाँ
उसके रंगों में नहाता, गाता
और जब खो जाता उसका अर्थ
मैं भी ख़त्म हो जाता उसके साथ

लेकिन ऐसा तो नहीं है न वसन्त
वह जन्मा मेरे जन्म से पहले
गढ़ा उसने आदम और हव्वा को
रचा उसने उनके भीतर धधकती हुई आग को

आदमी की आग जब-जब रचती है अपने भीतर, अपने बाहर
तब वसन्त होता है
आदमी की आग जब जब फूँकती है शंख
तब वसन्त होता है
आदमी की आग जब-जब उठाती है न्याय की तलवार
तब वसन्त होता है
वसन्त सिर्फ़ एक मौसम का नाम ही तो नहीं है ●

## नीलम श्रीवास्तव

### नया जादूगर

न उसके पास छड़ी है
न मुर्दे की खोपड़ी,
न काला लिबास ही है उसका ;
हाँ, वह मंच पर खड़ा है
और तुम दर्शक-दीर्घा में।

उसके पास सहयोगियों की एक टोली है
और बेहद मोहक बोली है
जिसके सहारे—तुम्हारी तमाम सचेतनता का
व्यूह भेदकर वह खींच लेता है तुम्हें
और जिन दर्शक भाइयों की मदद से

तुम उसे नंगा करना चाहते हो
उन्हीं की गवाही से फींच देता है तुम्हें।

फींच देता है तुम्हें कि तुम्हारी पहचान
बालू पर अंकित चित्र सी धुल जाती है
बन्द हो जाते हैं हॉल के तमाम रोशनदान
मंच के काले परदे पर एक,
सिर्फ एक खिड़की खुल जाती है
और उससे झाँकते हैं कई-कई रंगों के सूरज
अनेक-अनेक सुगन्धों वाले फूल
जैसा वह चाहता है, वैसा ही
साफ़-सुथरा आसमान……

साफ़-सुथरा आसमान, तुम्हारे
चालीस साला सत्य को झुठलाता हुआ
तुम्हारे अनुभवों की खिल्ली उड़ाता हुआ
तुम्हारे देखने और समझने की तमीज़ को
नकारता हुआ,
एक साफ-सुथरा आसमान तुम्हारी
ज़बान को दुराग्रही और तुम्हारे
पेट को अतिवादी सिद्ध करता हुआ

अपनी रंग-बिरंगी किरनों और
अनेक-अनेक सुगन्धों वाले फूलों का
मुकुट उसके शीश पर धर देता है
और तुमसे तालियां पिटवा लेता है

जाओ, लौट जाओ अपने घर को
वह नया जादूगर है
और चैलेंज देकर खेल दिखाता है
तुम उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते

जब तक कि वह मंच पर है
और तुम दर्शक-दीर्घा में। ●

पॉलो नन्दी

देव !

तुम्हारे अस्तित्व का किताबी ज्ञान
आभास देता
वैकुण्ठ की उस सत्ता का,
जो सूचक है
निर्लोभ और निष्पाप देवत्व का

पता नहीं तुम हो या नहीं
पर पीढ़ियों से चले आते विश्वास के विरुद्ध
उठते विचारों को,
न जाने क्यों बल नहीं मिलता
इस अपंग श्रद्धा के दौर में......।

फिर भी,
ऐसा क्षण भी आता है
जब तुम्हारे देवत्व के सामने मेरा मनुजत्व

सिर झुकाने से इन्कार कर देता है
और
तुम्हारा तथाकथित निष्कलंक वैकुण्ठ
मेरे लोभ और मोह के सामने
छोटा पड़ जाता है……

तुम्हारा आदर्श मेरे यथार्थ से टकराकर
गुरुत्वाकर्षण की पकड़ से दूर शून्य में
तैरने लगता है,
एक लक्ष्यहीन छटपटाहट के साथ।
पर मेरे पैर,
धरती से ही चिपके रह जाते हैं—
क्योंकि इन्हें पता है,
शून्य में उठने का अर्थ है—
क्षत-विक्षत हो वापस धरती पर गिरना।

तुम्हारा अंग हममें होने की धारणा
महज़ एक भ्रम है—
तभी तो
पुरुष की आँखों में
आदिम रक्तिमा को देख
सहम नहीं उठती
मेरे अंदर नारी की कोमल सत्ता।
तुम्हारी विवशता ने उसे सिखाया है
बलात्कार का उपभोग करना।

प्रभु!
बहुत पीछे समय से
आज प्रतिष्ठित हो पाओगे
जब एक ऐसे युद्ध का शंखनाद कर सको
जो झेल सके
तीव्र प्रसव वेदना
एक नये महाभारत के जन्म की। ●

मानव गुप्त

## अँधेरों के उजाले

सुनसान वीरान
गलियों में, कूचों में,
जब आवाज़ें सो जाती हैं,
तब टिमटिमाते हैं—
अँधेरों के उजाले।

सड़क की धूल
जब ऊँची उड़ान से
थक कर चूर हो जाती है,
तब टिमटिमाते हैं—
अँधेरों के उजाले।

पहरेदार की ठण्डी लाठी,
जब ज़मीन पर सर पटकती है,
तब टिमटिमाते हैं—
अन्धेरों के उजाले।

आलीशान रंगीनियाँ
जब रोज़ की आदत से,
कोई नई रागिनी छेड़ती हैं,
तब टिमटिमाते हैं—
अँधेरों के उजाले।

बेहोशी में, प्रभात से पहले
जब कोई स्वप्न
मुस्कान छेड़ देता है,
तब तक टिमटिमाते हैं—
अँधेरों के उजाले। ●

## मृत्युञ्जय उपाध्याय

### ऊँचाई

छूट गये पीछे
बहुत नीचे
माटी के घर
चीड़-देवदार
धान और मक्के के खेत

छूट गयीं
अपनों तक जाती पगडण्डियाँ
स्वस्तिक बनस्पतियाँ
अरुन्धती औषधियाँ

अब
आरम्भ यहाँ
क्रूर ऊँचाई
हिमधवल शिखर
क्षीण प्राणवायु
चढ़ने में
सांस लेने में
कठिनाई

आह मृत्युञ्जय !
आकांक्षा
औरों से अलग
दूर से दिखने की
कहाँ ले आई ! ●

श्रीहर्ष

## मैं आकाश हूँ !

अँधेरा और लम्बी साँस लेते
सन्नाटे के बीच
उलझा हूँ—मैं आकाश

चाँद से सफ़ेद चेरी पर
क्रीम की तरह दूधिया चाँदनी
रगड़ता हूँ
काले दाग और अधिक गहरे होकर
उभर आते हैं
मोटी किताब के किस पन्ने से
छिपाऊँ चेहरा
'कानूनबाज़' चील के घोंसले में
खोजते हैं मांस ।
पलक झपकते ही सपने
चुरा ले गये सुगंधित सुख
अब किस दिशा पर करूँ भरोसा ?
मैं आकाश······

घायल हवाएँ-अपने ज़ख्मों का मवाद
फेंक रही हैं वातावरण में
अपने ही बुने जाल के फंदों में फ़ँस रहा हूँ खुद
धरती की सूखी पपड़ियों भी
ऊबकर फेरली है आँखें
पानीदार शीशे की सुरक्षा में
गूँजती है मौत
किस आधार पर रखूँ
अपना हवाई पाँव
मैं तो शून्य झूलता आकाश हूँ ।

राजेन्द्र कानूनगो

## गली के नुक्कड़ पर बैठे

गली के नुक्कड़ पर बैठे
बूढ़े रिक्शेवाले से मैंने पूछा
श्याम बाज़ार जाओगे ?

पहले वह खाँसा, कफ़ थूका
और फिर कराहते हुए
खड़े होकर बोला
ज़रूर ले चलूँगा बाबूजी
चार रुपये लगेंगे।
मैंने उसकी हालत देखकर पूछा
इस दशा में रिक्शा खींच पाओगे ?

वह हलका सा मुस्कुराया और बोला
रिक्शा मैं कहाँ खींचता हूँ बाबूजी
मेरी भूख खींचती है
मैं तो महज़ रिक्शे का डण्डा पकड़ता हूँ। ●

राजनन्दन मिश्र

## फिर

क्षणों में जीने का मेरा संकल्प
गलता जा रहा
अतीत की आँच पर

मेरे खगोल का धुंधलका
स्पष्ट होता जा रहा है
जिजीविषा के दुर्धर्ष घेरे में
दिमाग के तन्तु
फिर हवा दे रहे हैं
एक जुनून को

मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ
अँधेरे की मेरी चीखें
एक अजीब कोरस में
बदलती जा रही हैं।

## रीता मेहरोत्रा

### अमूर्त

अचानक उठी
काल आँधी की तरह
चारों ओर गूँजती हँसी के बीच
सिहराती, सिकुड़ती, भयभीत शिराएँ,
और पैर से गर्दन तक का
पूरा का पूरा खून
सिमट जम गया है चेहरे पर,
अनायास हथेलियाँ कानों को दबाती रहीं
अपने होने का एहसास जताती रहीं,
मेरी आँखें आँखें नहीं
खौलते उबलाते खून की
परिभाषा बन रह गईं,
शरीर जड़ बना
भाग जाना चाहता रहा
कहीं दूर,
बहुत दूर……
उस गूँजती हँसी से दूर
जो एक-एक कर मेरे अंग
को उधेड़ती रहीं।
और मुझे भी सच लगने लगा कि
न मेरे पास हाथ-पैर हैं,
न धड़,
न बुद्धि, विवेक, ज्ञान हैं
न धड़कने वाला दिल,
कोई अनुभूति शेष नहीं बची
सिवाय इसके
कि एक चेहरा है
और वह खून से लथ-पथ
अपहचाना। ●

शंकर माहेश्वरी

## सूर्यव्रती

वसुन्धरा माता के स्नेह साकार,
तुम्हें खेतों में जाकर हम
न्योता दें बार-बार
शस्य, हमें स्वास्थ्य दो
कि ठण्ड और गरमी का
आस्वादन कर सकें।

जब-जब तुम आओ
हम उत्सव मनाते रहें सपरिवार
रच-रच कर गीत नये
स्वागत में गाते रहें

आता है जब प्रकाश
सब कुछ होता उजास
वैसे हे सूर्यव्रती,
आओ तुम गेह में हमारे।

## सरिता राय

### मिट्टी

एक कोने में अटकी मिट्टी हूँ मैं
कुम्हार हो तुम
मेरे कच्चेपन की सोंध ने
किया है हमें पास पास
शाबाश, कुम्भकार शाबाश

क़ायल हो गयी मैं
तुम्हारे उर्वरक गुण की,
पर भूलना मत,
मेरे निर्माण की हाँड़ी को
बारीकी से घुमाकर ज़रूर परखना,
कहीं रह न जाये कोई छेद
अन्यथा हो जायेगी तुम्हारी कोशिश
बूँद बूँद वृथा,
और मैं हूँगी
बस चुप
बस उदास।

सविता बेनर्जी

## जब मैं जाऊँगी कभी

जब मैं जाऊँगी कभी
एक नीला आकाश
एक हल्केपन का एहसास
एक कविता उदास
दे जाऊँगी मैं तुम्हें
जब मैं जाऊँगी……

सारी रिक्तताएँ
सारे तनाव,
ले जाऊँगी अपने साथ

एक रजनी गंधा
एक खुली संध्या
एक मूक इतिहास
छोड़ जाऊँगी तुम्हारे पास
जब मैं जाऊँगी कभी ●

## सुकीर्ति गुप्ता

### ग्रीष्म का एक चित्र

दिव्या के बड़े होते आँचल से
छूटी संध्या,
केश खोले सड़क मैदान पार्क में नटखट,
दौड़ी जा रही है,
बाहर बैठे लोगों से कानों में बात करती,
घर की दीवारों से मुक्त
लोगों के बीच वह बहुत खुश है,
हिलाती-डुलाती, पंखुरियों को छेड़ती,
डाली को चूमती,
तारे जड़े पर्दे की ओट हो गई। ●

सुशील गुप्ता

## ज़िन्दगी जीने के लिए

कभी-कभी समझौते ज़रूरी हैं ;
बचपन में थमाए गए इस सूत्र को,
मैंने 'हुंहः' करके झटक दिया ।

आखिर यह मेरा अपना मामला था
नितान्त व्यक्तिगत और निजी—
इस बारे में किसी भी फैसले का हक़
सिर्फ़ मुझे था !

लेकिन कमबख्त वक्त,
तेज़तर क़दमों से चलता हुआ,
मेरे विद्रोह को
पर्त-दर-पर्त तोड़ता रहा,
मेरे हर सच को
सैकड़ों झूठ से जोड़ता रहा ।
दरअसल दुनिया के निज़ाम में
आदमी का आदमी होना भी
कितना ज़बर्दस्त हादसा है,
और ईमानदारी संगीन जुर्म !

सम्बन्धों की टूटी नाव भी,
हमें कहीं नहीं ले जाती ।
अनगिनत घुमावदार गलियारों में भटकते हुए
हम उसी दहलीज़ पर
सिर झुकाने को विवश हैं,
जिसकी नींव समझौते पर टिकी हुई है । ●

# इसराइल

## उसका बेगाना

जाड़े की गुनगुनी धूप घास पर लेटी हुई थी। कारखाने के अहाते में और भी अधिक लोग आकर पसर गए थे। आकाश बिल्कुल साफ था। चिमनी के धुएँ से भी ऊपर कुछ चीलें गोल चक्कर काटती हुई उड़ रही थीं। वातावरण की शून्यता में कारखाने की गड़गड़ाहट एक बोझिल, बेमानी संगीत की तरह

कानों में आकर पैठ रही थीं। देह की रग-रग में वह संगीत घुलमिल जा रहा था। थोड़ी देर बाद कोई झनझनाहट भी शेष नहीं रह जाती, जैसे सून्न देह का मृत अंग अपना हिस्सा हो।

शिवकली भी मैदान में बैठी थी। लेकिन कोई भी उसके पास बैठने के लिए नहीं आया। वह मैदान की भीड़ में अकेली थी। उसे अपनी जोड़दारिन का इन्तज़ार था। वह नहीं आई। शिवकली हमेशा अपने तर्कों से जोड़दारिन को विवश कर देती है। जोड़दारिन को उसके सही होने पर मुहर लगानी पड़ती है।

जोड़दारिन इधर महसूस कर रही है कि जोड़दारिन से उसकी दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। दुख तो इसका है कि अब वह भी जोड़दारिन की परवाह नहीं करती। उसे कल की बातें याद हो आईं।

—तो तुम समझती हो कि मैंने गहनों के लिए ही सोनार से विवाह किया और साड़ी के लिए बजाज से भी कर सकती हूँ?

—नहीं, मैं ऐसा नहीं समझती, पर लोग जो कहते हैं?

तो तुम भी लोगों की बातें मुझे इसलिए बताती हो कि मुझको बुरा लगे और मैं जलूँ!—क्या बात है? इतना रुक-रुककर तो तुम कभी नहीं बोलती थीं।

जोड़दारिन कोई उत्तर नहीं दे सकी। वह शिवकली की ओर मजबूर और मायूस नज़रों से देखती रह गई। शिवकली, हमेशा की तरह सर से सरक कर गिर जाने वाले आँचल से सर को ललाट तक अनावश्यक रूप से ढँके हुए थी। उसका जबड़ा हिल रहा था, जैसे वह बहुत पहले खाये हुए पान की सिट्ठियों को अब भी चबा रही हो। तब जोड़दारिन ने यही समझा था कि शायद तनाव से परे, एक शेषहीन कंपकपाहट के कारण ही शिवकली का जबड़ा हिल रहा है।

शिवकली ने माथा झुकाए हुए ही कहा—अपना-अपना भाग्य है। तुम एक ही घर में हो, जिंदगी भर रहोगी। मुझे कई दरवाजे देखने पड़ेंगे, कौन जाने!

—तुम्हें कई दरवाजे देखने पड़ेंगे? मुआ मर्दों को ही पकड़ कर लाती हो, पाँच दिन रखती हो, फिर निकाल बाहर करती हो। फिर किसी दूसरे—जोड़दारिन की बातें पूरी भी नहीं हो पायीं। जिसके सामने किसी भी मार्मिक प्रसंग पर आँसू निकल आते रहे हैं, वहाँ आज भी आँसू निकल आए। दुराव

की अनखींची लकीर के दायरे में अपने को महसूस करके भी, और अपने लिए जोड़दारिन के मन में एक अव्यक्त डाह का अंदाज़ा लगा लेने के बाद भी, शिवकली के आँसू नहीं रुक सके। शायद इस भाव के प्रतिकार में यह आँसू थे कि इतना अपना इन्सान भी कितना बेगाना हो सकता है। जोड़दारिन ने उसका आँचल खींचा—तुम बहुत बुरा कर रही हो। बात चली थी मजाक से और आकर आंसुओं में डूब गई। हंसो और हंसकर फिर एक बार उसी तरह कह दो कि—कहने वाले भाड़ में जायँ!

ज़ोड़दारिन ने आगे की ओर सरक कर उसकी बाँह पकड़ ली। उसके हाथ का खुरदरा स्पर्श, गरमाहट और अपनापन के मजबूत कसाव से शिवकली में आत्म विश्वास भर गया।

उसने अपने सर के आँचल को खींचते हुए कहा—देखती हो, मेरी देह पर एक भी गहना है? जो गहने पहले पहनती थी, वह भी अब नहीं पहनती। इसलिए नहीं पहनती कि लोग कहेंगे, देखो, गहनों के लिए ही उसने सोनार से शादी की थी।—सच तो यह है कि संयोग से ही केशर सोनार है। उसके अपने खाने का तो है ही नहीं। आज इस दूकान में काम किया, कल उस दूकान में, परसों तीसरी में! वैसे, वह कोई भी जात होता तो मैं उसे रख लेती। यह फैसला करते वक्त मैंने थोड़े पूछा था कि तुम कौन जात हो, कहाँ के रहने वाले हो!

यह सब बातें एक दिन पहले की थीं। इतनी मलामत के बाद शिवकली ने सोचा था कि जोड़दारिन के मन का बोगज निकल गया होगा। लेकिन आज जब अहाते में उसके पास बैठने के लिए जोड़दारिन नहीं आई तो शिवकली को सोचना पड़ा कि आदमी का मन उतना आसान नहीं, जितना कि वह बताया करता है। आदमी कभी-कभी फैसलों और तर्कों से जिन बातों को मान लेता है, मन से उन्हीं बातों को नहीं मान पाता। जोड़दारिन के न आने के पीछे यही कारण रहा हो। लोकापवाद से भी वह भी त्रस्त हो गई हो और भावनाओं के उन धागों को तोड़ दिया, जिसके मजबूत होने का विश्वास शिवकली के मन में हमेशा ही भरपूर रहा है—अपने और जोड़दारिन के सन्दर्भ में तो निश्चित रूप से।

शिवकली शाम को कारखाने से निकली तो उसका विश्वास था कि केशर गेट पर खड़ा मिलेगा। उसे यह अच्छा नहीं लगता था कि केशर हर रोज़ दोने में मिठाई लेकर गेट पर खड़ा रहे और दर्जनों आदमी अगल-बगल खड़े होकर तमाशा देखें। उसने सोचा—ऐसे मर्द भी अच्छे नहीं, जो इतना प्यार

करें, इतना···कि ऊब होने लगे। लेकिन वह मर्द भी तो अच्छा नहीं है, जो कभी न पूछे, किसी भी दिन गेट पर न आये। सिर्फ सनीचर के दिन, गेट पर आये और वेतन के पैसे छीन कर भाग जाय।

उस दिन केशर को गेट पर देखकर शिवकली को झुंझलाहट हुई। वह क्या करे? अभी ही केशर कहेगा—गमछा लो, मुँह पोंछ लो, पहले मिठाई खाकर पानी पी लो, कलेजा सूख गया होगा।

जिस जग हँसाई के भय से शिवकली बार-बार भागती है और साथ ही अपने को समझाने के लिए कहती है—यह सब तो सुनते-सुनते कान पक गये—वह हालत अनचाहे ही बार-बार जुड़ आती है। तब बिल्कुल नहीं लगता कि ऐसा कुछ हो रहा है, जो उसने नहीं चाहा था।

शिवकली दूसरे दिन ग्यारह बजे जब कारखाने से आई तो केशर लोटा में पानी लेकर उसके सामने खड़ा हो गया—लो, हाथ मुँह धो लो, मैंने पानी गरम कर रखा है, नहा लो।

शिवकली ने खड़े ही खड़े कहा—तुम काम पर नहीं गये? केशर चुप था। कुछ देर बाद बोला—तुम को दिक्कत होगी, खाना बना दूँगा, पानी गरम कर दूँगा—यही सोचकर नहीं गया। फिर तो सोना बंद हो गया है, सिर्फ चाँदी पीटने से ज्यादा कुछ हाथ नहीं लगता।

—बहाने तो तुम्हारे पास सौ हैं। मैं दिन ड्यूटी में दोपहर का खाना नहीं खाती। और जाड़े में ठण्डे पानी से नहा-नहाकर मैं मर नहीं गई हूँ, जो तुम गरम पानी से मुझको नहलवाने आये हो···मेरी फिकर छोड़ कर तुम अपनी बात करो। अगर नहीं मिलता है तो छोड़ो सोना-चाँदी! कारखाने में काम करो—मेहनत मशक्कत!

—मिलता कहाँ है?—केशर ने धीरे से कहा।

—अबे, कुछ नहीं मिलता है तो मिट्टी काटो, शहर में सर पर टोकरी लेकर घूमो—लो मिट्टी, लो मिट्टी की हाँक लगाओ। करने वालों के लिए हजार काम हो सकते हैं। अगर तुम इस तरह से बेकार रहे तो तेरा-मेरा रिश्ता टूट जायेगा। केशर अपराधी जैसा खड़ा रहा।

शिवकली जब तक खाना खाती रही, केशर सामने बैठा पंखा झलता रहा।

अबे यह जाड़े का दिन है। पंखा क्यों झल रहा है? इतना भी नहीं समझते!—मक्खी उड़ा रहा हूँ।

शिवकली के चेहरे पर झुंझलाहट की हँसी उभरी। जब वह चारपाई पर गई तो केशर पान लेकर सामने खड़ा हो गया। पान लेने के बाद शिवकली ने कहा—खड़े क्यों हो, उधर जाओ बोरा डालकर सो जाओ या कहीं जाना चाहते हो ? जा सकते हो ?

आँखें मूँद लेने के बाद भी शिवकली को नींद नहीं आई, हालांकि दिन ड्यूटी में वह दोपहर में थोड़ी देर के लिए सो लिया करती है। इससे उसकी थकन मिटती है। फिर दो बजे वापस चली जाती है। अभी तो वह चाहती है कि समय के पहले ही सायरन बजे और वह कारखाने में चली जाय। जैसे उसके अन्दर ही अन्दर कुछ मथ रहा है। कभी-कभी वह अज्ञात भय से थर्रा जाती है। लेकिन जब वह कारखाने के अन्दर होती है तो उसकी ज़िन्दगी लौट आती है। शिवकली ने आँखें खोलकर देखा—केशर चारपाई के बगल में ही मिट्टी की चिपचिपी फर्श पर बोरा डाले पड़ा है। उसने केशर से बातों का सिलसिला जब फिर जोड़ा तो केशर बोरे पर से उठकर चारपाई पर चला आया। शिवकली बातों का सिलसिला तोड़कर छत की ओर देखने लगी। छत की बरसों से जमी कालिख के बीच मकड़ी जाला बुन रही है। कालिख पुते बाँस के फटकनों पर मकड़ी के जाले के बीच एक छिपकली इस कोने से उस कोने तक दौड़ गई। मकड़ी के जाले के साथ कालिख के कई टुकड़े शिवकली की छाती पर आ गिरे। छिपकली बाँसों के फटकनों के दराज में छिपकर गायब हो गई। वह केशर के लिए चारपाई छोड़कर अलग हो गई और कारखाने में जाने के लिए चल पड़ी। वह अनजाने ही चप्पल छोड़कर नंगे पाँवों चलने लगी। उसे एक बार भी ध्यान नहीं आया कि उसके तलवों में कंकड़ी चुभ रही है। भुर-भुरी मिट्टी, कंकड़ और टूटी पिच का दबाव उसके तलुओं को अजनबी सुख दे रहा था। तलुवों में पड़ने वाली ऐंठन कहीं अन्दर उसके हृदय में, गाँठों की शक्ल में पड़ रही थी।

क्या नारी की यह अभिशप्त नियति है कि अगर वह इस ना बराबरी की व्यवस्था में आर्थिक रूप से आत्म निर्भर हो भी गई तो उसे किसी न किसी रूप में, किसी न किसी पर निर्भर रहना ही होगा ? किसी न किसी पुरुष की आश्रिता होकर रहने के सिवा उसके सामने कोई विकल्प नहीं है। अगर उसने ऐसा नहीं किया तो उसका जीवन नर्क से बदतर बना दिया जाएगा। चाहे जिस पुरुष के साथ रहे, वह नारी की इस नियति से भलीभांति परिचित होता है। ऊब की हद तक अपनापन दिखाने वाला केशर भी जो किसी भी तरह के व्यक्तित्व का मालिक नहीं है, वह भी इस

चीज़ को अच्छी तरह जानता है। अगर वह छाया की तरह हमेशा शिवकली के साथ होता है तो इसका अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि वह अपनी शीतल छाया में उसे हमेशा रखना चाहता है, बल्कि इसका अर्थ यह भी है कि वह उसे किसी भी तरह की दूसरी छाया से बचाना चाहता है। वह नहीं चाहता कि किसी और की छाया उस पर पड़े। यह महसूस करने के बाद ही शिवकली के अन्दर एक विद्रोह की आग भड़क उठती है और इतने प्यार करने वाले केशर के प्रति निर्ममता की हद तक कटु हो जाती है। केशर का लिजलिजा प्यार उसे घिनौना लगने लगता है। एक ऐसा प्यार जो अपनी सम्पूर्ण हार्दिकता के बावजूद एक हीनता की खोट लिए हुए है। शिवकली अपना कमाती है, अपना खाती है। बहुत पहले माँ बाप से झगड़ा कर अलग हो गई थी। उसने मोती को चाहा था। लेकिन मां बाप इस रिश्ते पर मुहर लगाने के लिए तैयार नहीं थे। एक तो मोती विजातीय था, उस पर से बेकार और लफंगा। माँ बाप का एतराज तार्किक था, इसलिए शिवकली शुरू के दिनों में चुप रही। लेकिन जब उसे कारखाने में असालतन काम मिल गया, तब उसने बगावत की। यह बगावत वैध-अवैध की सीमाओं—जिसे शिवकली ने पचड़ा कहा था—से भी आगे निकल गई। उसने अपने लिए पाँच रुपये माहवार पर किराये का एक घर ले लिया। और मोती को साथ लेकर उसमें रहने लगी। उसने विधिवत नहीं किया। उसको अपने पर इतना भरोसा था कि उसने जैसे मोती को नहीं, अपनी क्षमताओं का वरण किया हो। जैसे मोती निमित्त मात्र हो, वह अपने को आज़मा रही है। इसी आत्मबल ने उसमें मोती तक को ठुकरा देने का साहस जुटाया था।

मोती के साथ रहते हुए थोड़े ही दिन गुज़ारे कि उसने अनुभव करना शुरू किया कि मोती हज़ार हार्दिक प्रेम के बावजूद अपनी मर्दानगी का दबदबा उस पर बनाए रखना चाहता है। शिवकली की कमाई के एक-एक पैसे पर वह अपना अधिकार समझता है और उसके जीवन की एक-एक साँस और एक-एक क्षण का हिसाब चाहता है। शिवकली को कुछ ही दिनों में लगने लगा कि उसकी एक-एक साँस मोती के पास गिरवी है। जिस मोती के कारण वह शहर भर में कुलटा और अविश्वनीय मानी जाने लगी, वह मोती भी उसे कुलटा और अविश्वसनीय समझता है। उसी दिन शिवकली का सब सपना भंग हो गया, जिस दिन मोती ने पहली बार शिवकली को पीटा।

शिवकली जब इन बातों को सोचते हुए बुरी तरह से घबड़ा गई तो वह और भी तेज़ कदमों से चलते हुए समय के पहले ही कारखाने में पहुँच

गई। दो बजने में अभी काफी समय बाकी था। कारखाने में जाकर वह एक पाट क़ी गाँठ पर बैठ गई। सब कुछ वही था, लेकिन उसे लगा कि वह किसी नई जगह पर आ गई। आज तक समय से पहले वह कभी भी कारखाने में नहीं आई थी। उसे देख कर रोज़-रोज़ मुस्कुरा देने वाले या झुक कर कान में कुछ कहने वाले सभी उसे अचरज से देख रहे थे। परिचित लोग भी अपरिचित से बगल से निकल गए। सुबह शाम उसकी बलायें लेने वाली उसकी चौकड़ी की बुढ़िया गार्जियन भी व्यंग के लहज़े में उसके कान में कह गई—पहले तो मोतिया मारता था तो भाग कर इधर आ जाती थी, मगर अब तो केशर दुलारता होगा, तब भी क्यों घर से भाग आई हो !

—मार दुलार दोनों से ज्यादा अच्छा मुझे लगता है, कारखाने में रहना और काम करना।

—यह चोना-झोना छोड़ो, लीक तोड़ कर चलने वालियों के साथ यही होता है, जो तुम्हारे साथ हो रहा है ? अब से भी सँभाल कर सही रास्ता पकड़ो !

—बुढ़िया, वह सब मत सिखाओ। मैं तुम्हारी जैसी भैंस गाड़ी नहीं हूँ, जो दूसरों की बनाई हुई लीक पर नहीं चलूँगी तो एक्सीडेंट हो जाएगा। तुम डरो, इस उमर में अगर एक्सीडेंट हुआ तो तुम्हारे हाथ-पाँव टूट जाएंगे। मैं कोई लीक नहीं बना रही हूँ। सिर्फ चल रही हूँ, अगर चलने से कोई नई लीक बन रही हो तो मेरी बला से।

इसके बाद, हमेशा ही बुजुर्गियत की हमसाया बनी रहने वाली बुढ़िया भी अचरज भरे अपरिचय से शिवकली की ओर देखती हुई वहाँ से चली गई।

शिवकली उस दिन पाँच बजे कारखाने से निकली तो केशर फिर गेट पर खड़ा मिल गया। वह हाथ में ठोंगे में कुछ लिए हुए था। शिवकली ने इस बार उसे कई आदमियों के सामने ही फटकार दिया और अपनी साथिनों के साथ कहीं और चली गई।

जब वह आठ बजे रात को घर पहुँची तो केशर नहीं था। उसका मन खाना बनाने को नहीं हुआ। चुपचाप वह कम्बल ओढ़ कर चारपाई पर लेट गई। किरासन तेल की ढिबरी धुँधली ही जलती रही। ढिबरी की लौ पीली दीवार पर काली लकीर बनाती हुई ऊपर तक चली गई है। मकड़े के पुराने जाले में कालिख के झालर बने हुए हैं। शिवकली यही सब देखती रही। दीवार की खूंटी पर एक फटी कमीज टँगी थी। यह कमीज

मोती की थी, उसे याद आया। मोती कहा करता था—देखो तुम मेरी बीवी हो, और यह मेरी कमीज है। कोई मुझ से पूछे कि तुम सब से अधिक किसको चाहते हो तो मैं सरे आम कहूँगा कि अपनी कमीज को।

जब वह नशे में होता था तो कहता था, एक औरत से एक कमीज की कीमत अधिक होती है! अगर न होती है तो होनी चाहिए।

ज्यादातर ऐसी बातें रात को हुआ करती थी। इसलिए शिवकली चुप रह जाया करती थी। उसे बौखलाहट होती थी कि मुझसे यह बदलाव क्यों कर आ रहा है! बरदाश्त करना मेरी आदत में शरीक नहीं था! वह भी किसी पुरुष को इस तरह बरदाश्त करना। उसे खुद अचरज में डाल देता था। वह सोचने लग जाती थी कि आखिर आदमी ऐसा क्यों हो जाता है। जब तक मोती साथ रहने के लिए नहीं आया था तब तक पुरुषों के साम्राज्य से वह अपरिचित थी। वह सोच भी नहीं सकती थी कि कोई उसे मार भी सकता है। और उसकी मर्जी के खिलाफ चल भी सकता है। हालांकि उसने बचपन से अपने पड़ोस में औरतों को मरदों के हाथों पिटते हुए देखा था!

शिवकली उस टूटी चप्पल की ओर देखने लगी जो कोयले की टोकरी के नीचे पड़ी थी। यह चप्पल उसकी पीठ पर कई बार बरस चुकी है। उसने बार-बार सोचा है कि इस चप्पल को उठाकर बाहर फेंक दे लेकिन नहीं फेंक सकी है। संभवतः इस चप्पल की याद उसकी रीढ़ की उस हड्डी को और भी मजबूत बनाती है जिसे तोड़ देने के लिए यह चप्पल उसकी पीठ पर बरसती रही है। शायद आम मरदों की तरह मोती का भी यही मकसद रहा हो कि शिवकली के हाथ-पाँव तो दुरस्त रहें जिससे वह काम करती रहे, मगर रीढ़ की हड्डी टूट जाय, ताकि वह कभी भी कमर सीधी करके खड़ी न हो सके।

हर सनीचर को साप्ताहिक वेतन मिलता है। और अब भी हर सनीचर को मोती गेट पर आ जाता है और उसके वेतन के पैसे छीनने लगता है। कहता है—तुमने मुझको छोड़ दिया है तो क्या? मैंने तो तुमको नहीं छोड़ा है। तू साली कमाती है, किसके लिए।

शिवकली ने जिस दिन मोती को छोड़ देने का फैसला लिया था, उस दिन जार-जार रोयी थी। लेकिन लगातार आँख से आँसू गिरने के बावजूद उसने, अपने को असहाय महसूस नहीं किया था इसीलिए वह अपने अंदर साहस जमा कर पायी थी। मोती से यह कहने के लिए कि यह घर मेरा है। एक समझौता था कि तुम इसमें मेरे साथ रह रहे थे। अब वह समझौता टूट चुका है, तुम इस घर से चले जाओ।

—एक नहीं, एक दर्जन लाईन लगाकर खड़े हो सकते हैं। वह मेरा निजी मामला है। मेरे निजी मामले में अब तक तुम्हारी दखलंदाजी थी, अब से नहीं! अभी ही, फौरन, तुम यहाँ से नहीं गये तो जान लो, मैं चीखूँगी, मुहल्ले भर के लोगों को इकट्ठा कर लूँगी, तुम सोच लो, इस मामले में हर आदमी मेरा साथ देगा, तुम्हारा नहीं।

—वो तुम्हारा साथ क्यों देंगे? तुमने कौन-सी जड़ी उन्हें सुंघा रखी है।

—कोई जड़ी नहीं! मैं बचपन से देख रही हूँ कि अपनी औरत को कैद रखने वाला मरद भी दूसरी औरत को छुड़ाने के लिए दौड़ पड़ता है।

—तू साली फिलासफर हो गयी है।

—इसीलिए तो तुम्हें पहचानने लगी हूँ। अब और अधिक बात नहीं, अब मैं चीखूँगी। यह कहते हुए शिवकली ने अपनी आवाज तेज कर दी।

—बस-बस मैं जा रहा हूँ। कमरे से निकलते हुए मोती ने कहा था। कमरे से लेने लायक उसका अपना कोई सामान नहीं था इसलिए किसी आगंतुक की तरह ही वह निकल कर चला गया। लेकिन जाते-जाते यह भी कह गया—याद रखो, मैं हमेशा के लिए नहीं जा रहा हूँ, इस वक्त यहाँ मार पीट होने का खतरा है।

—नहीं, इस वक्त सिर्फ तुम्हारे पिट जाने का खतरा है, इसलिए जा रहे हो।

लेकिन मोती यह सुनने के लिए वहाँ नहीं था, वह तेजी से निकल गया था।

शिवकली जिस तरह इस घटना के पहले रोयी थी ठीक उसी तरह इस घटना के बाद भी रोयी थी! वह इसलिए रोयी थी कि आर्थिक सुरक्षा के बावजूद वह सामाजिक असुरक्षा के फेंस पर खड़ी थी। उसके आँसू बहुत देर तक नहीं रुके थे। तो इसका मूल कारण यह था कि उसने कभी भी भावनाओं और आवेगों की सौदेबाजी नहीं की। यही कारण था कि अपने परिवेश में सर्वाधिक चर्चित होते हुए भी और सामाजिक मान्यताओं के अनुसार उसके अवैध जीवन के बावजूद उसकी ओर अँगुली उठाने का कोई साहस नहीं करता था।

यह घटना उसकी पहली पराजय थी। और अब लगता है कि केशर का साथ उसकी पराजय है।

शिवकली इस ओर से अपना ध्यान हटाने के लिए कमरे की हर चीज़ को फिर गौर से देखती है। शायद वह इस कमरे में केशर का भी कोई निशान ढूँढ़ निकालना चाहती है। मगर कमरे की किसी भी चीज़ पर केशर की कोई भी छाप दिखाई नहीं पड़ती है। जैसे वह आदमी इस कमरे में कभी आया ही नहीं हो। अचानक ही अपने बिखरे सामानों की करीने-सी सजावट पर उसकी नज़र गयी। उसने थोड़ी देर के लिए अपने अन्दर के शकुन के लिए मान लिया कि केशर ही वह सजावट है जो कमरे में करीने-से नज़र आ रहा है। घर को सजाने-सँवारने की आदत शिवकली की नहीं है। मोती भी हमेशा चीजों को विखेर दिया करता था। शायद उसे करीनेपन से या सजावट से ही नफ़रत थी। वह भी अपने बालों को नहीं संवारता था। उसकी उजड्डुता उसके अंग-अंग से बोलती रहती थी। दूसरी ओर गंभीरता के साथ सजने-संवरने में केशर जब डूबा होता है तो उसे देखकर शिवकली को हँसी आती है।

जिन दिनों मोती से उसकी दूरियाँ बढ़ रही थी, उन्हीं दिनों शिवकली अपनी जोड़दारिन के साथ सोनार की दुकान पर पहुंची बनवाने के लिए गयी थी। उसी दुकान में केशर ने पहुंची का नाप लेते-लेते उसका पहुँचा पकड़ लिया था और इस मासूमियत से पकड़ा कि लगा ही नहीं कि कोई पुरुष पहुँचा पकड़ रहा है। एक उजड्डु की थप्पड़ खाने की तिक्तता में यह मुलायम स्पर्श शिवकली को एक दूसरे छोर, ठीक विपरीत छोर पर खींच कर ले गया। बाद के दिनों की मुलाकातों में उसे लगा कि केशर उससे प्यार नहीं, जैसे तरस खाने की भीख माँग रहा हो।

उसके बाद केशर बिना बुलाये ही उसके घर आने लगा। थोड़े दिनों के अन्दर ही केशर मोती की तरह ही खाली-खाली हाथों शिवकली के घर का स्थायी बाशिंदा होकर आ गया। शिवकली ने ना नहीं किया। शंकित मन से ही उसे स्वीकारा। मोती शिवकली की कमाई का खाना खाते हुए भी, पूरी तरह उस पर आश्रित नहीं था। वह भी बीच-बीच में कहीं से कुछ लूटपाट कर लाता था। अगर वह पैसा लाता था तो अपने पास ही रखकर खर्च करता था और सामान लाता था तो शिवकली उसे उठाकर बाहर फेंक देती थी। फिर वह सामान उठाकर कहीं और ले जाता था। शिवकली जान गई थी कि उसके हजार झगड़ने के बाद भी मोती लूटपाट का धंधा नहीं छोड़ सकता था। बचपन से ही मेहनत करने का धैर्य और सामर्थ्य उसमें विकसित नहीं हुआ था। दूसरी ओर शिवकली का साथ मिलते ही केशर अपना काम धंधा

छोड़कर पूरी तरह से शिवकली पर आश्रित होकर शाब्दिक अर्थों में हाथ-पाँव तोड़ कर बैठ गया। केशर के मामले में सबसे पहले शिवकली को यही ज्यादा नागवार गुजरा। इस मामले में वह वेहया निकला। अगर शिवकली यह सोचती कि केशर को अपना गुलाम बना कर सम्पूर्ण पुरुष जाति से बदला लिया जा सकता है तो वह बड़े ही इत्मीनान से इस काम को कर सकती थी। लेकिन वह केशर को खुद अपने पाँव पर खड़ा देखना चाहती थी। सिर्फ अपने दरबान के रूप में नहीं। केशर के शुरू के स्वभाव को देखकर शिवकली ने सोच लिया था यह आदमी उसे बराबरी का दर्जा देखकर मर्यादित करेगा। शुरू का केशर का आचरण शिवकली के इस सोच से भी आगे था। लेकिन शिवकली ने जिस दिन से उस पर काम करने का दबाव डालना शुरू किया, उस दिन से केशर चुपचाप बदलने लगा। इधर कई दिनों से शिवकली ने केशर को पैसा देना बन्द कर दिया था। केशर चाहे जितना ही मासूम क्यों न बनता हो उसे भी ढरकाने की आदत थी और वह भी जब पीकर आता था तो शिवकली को बदली-बदली और अविश्वास की नज़रों से देखता था। शिवकली हर चीज़ को, जो उसके प्रतिकूल जा रही थी। सच तो यह है कि इस छोटी-सी ज़िंदगी में हर महत्त्वपूर्ण चीज उसके प्रतिकूल ही गई। वह बरदाश्त नहीं कर सकती थी—यह सहनशक्ति उसमें नहीं थी। इस लड़ाई में जाने-अनजाने वह कोई खतरा उठाती जा रही थी। उस अन्तिम रात को, अधिक रात बीत जाने पर शिवकली, बेमन से ही सही, लेकिन केशर का इन्तज़ार करती रही। लेकिन केशर लौटकर नहीं आया। जब दस बजा तो शिवकली उठी। उसके अन्दर जैसे कोई ज़लज़ला आकर गुज़र गया और जाते-जाते उसके अन्दर कीचड़ छोड़ गया था जिसमें वह बुरी तरह फँस गई थी। वह उठकर दूकान तक गई और पाव रोटी और दूध लाकर खाकर सो गई। रात-भर केशर के आने की कोई भी आहट उसे नहीं मिली। वह सुबह मुँह अँधेरे ही उठ कर पाँच बजे कारखाने में चली गई। उसने यह सोचना ज़रूरी नहीं समझा कि रात में केशर आया था या नहीं।

यह अगला दिन सनीचर था। शिवकली को ग्यारह बजे गेट पर मोती और केशर दोनों के आनेकी आशंका थी, यह सोचकर वह मशीन पर ही व्यग्र खड़ी रही और दीवार-घड़ी की ओर देखती रही कि ग्यारह बजने न पाये। इस बीच पानवाला दो बार उसकी मशीन पर पान रख गया। मगर पान की गिलौरियाँ सूखती चली गईं। उसे याद ही नहीं रहा कि वह पान खाये।

आखिर में मशीन से हटने से पहले उसने पान की चार गिलौरियाँ एक साथ मुँह में डाल लीं।

वह जब गेट पर आई तो बिना इधर-उधर देखे ही केले वेचने वालों की कतार की ओर बढ़ गई। अभी वह केले की डलिया पर झुकी ही थी कि मोती ने उसकी पीठ पर हाथ रखा तो देखा कि मोती सहज ढंग से मुस्करा रहा है, जैसे वह बीते हफ्ते का हालचाल जानना चाहता हो।

शिवकली कुछ पीछे हटते हुए बोली—अब क्या चाहते हो? मैं तुम पर तरस खा जाती हूं, नहीं तो तुम जेल में होते?

—कोई बात नहीं, वह भी अपना ही घर है। लेकिन फ़साद तो तुम चाहती हो, मैं तो नहीं।—मोती ने फिर उसकी पीठ पर हाथ फेर कर सहलाना चाहा जैसे दुधारू गाय के साथ किया जाता है ताकि वह लगने में ना नू न करे।

शिवकली और भी पीछे हट गई। गेट पर भी भीड़ कसती जा रही थी। पीछे हटती शिवकली का मोती पीछा करता रहा। इस प्रकार दोनों हटते-हटते भिखमंगों की कतार में चले आए। उन हज़ारों की भीड़ में शिवकली सिर्फ एक व्यक्ति को खोज रही थी—वह थी उसकी जोड़दारिन! सिर्फ वही यह कह सकती थी—क्यों वे मोतिया, चर्बी हुई है? खाल उधेड़ कर चर्बी निकाल दी जायेगी।

लेकिन यह कहने वाली जोड़दारिन वहाँ नज़र नहीं आई। मोती शिवकली को धक्के देते देते भीड़ से बाहर निकाल ले गया। जब शिवकली मोती को वेतन का पैसा देने के लिए तैयार नहीं हुई तो अचानक ही उसने शिवकली का सर पकड़ कर कारखाने की दीवार से टकरा दिया। शिवकली ज़मीन पर गिर गई। उसकी नाक से खून बहने लगा था। मोती ने उसकी छाती पर पाँव रखकर उसका पैसा छीन लिया। ठीक बगल में खड़ा केशर सन्तोष की हँसी हँस रहा था। एक छोटी-सी भीड़ उनको घेर कर खड़ी हो गई थी! शायद शिवकली वेहोश हो चुकी थी। इसी बीच जोड़दारिन दौड़ती आई और खड़ी भीड़ को ललकारा—एक औरत को यह गुंडा मारे··· यह सुनने के साथ ही मोती वहाँ से हटने लगा। लेकिन भीड़ के घेरे से वह निकल न सका। पहला हाथ उस पर जोड़दारिन ने ही चलाया। उसके बाद भीड़ मोती पर टूट पड़ी। थोड़ी देर में मोती भी शिवकली के पास ही अधमरा पड़ा हुआ था। लोगों ने देखा केशर सर पर पाँव रखकर भागा जा रहा है।

# केदार सारथी

## अनुभव

हमारे मुहल्ले का बर्तन बेचने वाला बूढ़ा मर गया है। घर लोगों से खचाखच भर आया है। रिश्ते-नाते वाले, परिचित अपरिचित सभी सड़क पर भीड़ लगाये हुए हैं। सभी की जुबान पर बूढ़े के बाल-बच्चों की चर्चा है। ट्रक वाले दूबेजी कह रहे हैं, 'ओह, इसके बाल बच्चों का क्या होगा? अभी दो लड़के और चार-चार बेटियाँ कुँआरी पड़ी हैं—उनका क्या होगा? दो-दो बीवियाँ, न घर न देश। नौकरी करता था, वहाँ से क्या मिलेगा।

मैं भी अपने दो नन्हें-मुन्नों को लेकर खड़ा हूँ। बच्ची पूछ रही है। 'बाबा क्या हुआ है? यहाँ इतनी भीड़ क्यों?'

बच्ची छः साल की है, बच्चा चार साल का। कभी कभी मैं इनके प्रश्नों से घबड़ा जाता हूँ। जो देखते हैं, उसके प्रति इनके मन में तरह-तरह की जिज्ञासाएं होती हैं और ये मुझ से उसका सही समाधान चाहते हैं—जो इनकी समझ में आसानी से आ सके। मैंने कहा, 'यहाँ जो बूढ़ा रहता था, वह मर गया है।'

तब तक उसकी नज़र सजी-सजायी अर्थी की ओर पड़ी। आश्चर्य से बोली, 'बाबा बूढ़े को उसपर सुलाकर, लाल-लाल पताका लगाया गया है क्यों?'

छोटा बच्चा देख रहा है, लगता है—इसे ज्यादा आश्चर्य हो रहा है। मैंने दोनों को आगे खींचते हुए कहा, 'चलो चलो, बाजार चलो, बिस्कुट खरीदनी है न?'

लगा छोटा बच्चा बैठ सा जायगा, बोला, 'नहीं बाबा, बताओ न, फूल से क्यों सजाया गया है? यह गाड़ी क्यों खड़ी है?'

पास ही एक टेम्पू खड़ी है, इस पर लाद कर शायद नीमतल्ला या केवड़ा तल्ला ले जाया जायेगा। मैंने कहा, इसको लोग ले जायेंगे, गंगा के किनारे।

'गंगा किनारे क्यों?' बच्ची का आश्चर्य भरा प्रश्न गूंज उठा।

मैंने कहा, 'इसे लोग गंगा में डुबो देंगे या जला देंगे?' मैं थोड़ा झल्ला सा गया हूँ। पर मेरी झल्लाहट को ये नहीं समझ रहे हैं। मैं इनको बहुत प्यार करता हूँ और ये अपनी हर बात मुझसे मनवा लेते हैं। फिर बच्ची

पूछती है, ऐसा क्यों बाबा। डुबोयेंगे क्यों? जलायेंगे क्यों? वह रोयेगा नहीं?'

मैंने समझाने के लहजे में कहा, 'नहीं, अब यह नहीं रोयेगा?' मैं बार-बार मरने की बात बताकर इनके मन में कोई दहशत पैदा नहीं करना चाहता। इसलिये इन्हें खींचकर आगे बढ़ रहा हूँ। इतने में छोटा बच्चा फिर पूछता है, 'बाबा यह क्यों मर गया?'

मैंने कहा, 'बूढ़ा हो गया था, इसीलिये।' बड़ी बच्ची फिर पूछती है, 'बूढ़ा होने पर आदमी मर जाता है?'

मैं झल्ला गया हूँ। फिर भी कुछ उत्तर तो देना ही होगा। इनके बाल मन को कैसे शांति मिले। इसलिये मैंने कहा, 'हाँ, आदमी बूढ़ा होने पर मर जाता है।'

बच्ची ने बच्चे को घेर लिया, 'बाबा को बूढ़ा मत कहना, नहीं तो बाबा मर जायेंगे? हमारे लिये केला, मिठाई कौन लायेगा।'

छोटा बच्चा डर सा गया है, बोला, 'नहीं, मैं नहीं बोलूँगा, तू भी न बोल।'

बच्ची आंखें तरेर कर रही है, 'मैं कहाँ कहती हूँ रे, माँ और पापा बुढ़ऊ कहते हैं। ना बाबा?'

'हाँ-हाँ, चल।'

दोनों का हाथ पकड़े हुए मैं आगे बढ़ रहा हूँ, बच्चे लपक-लपक कर चल रहे हैं।

मरता तो जवान भी है, बच्चा भी है। बच्चों को अभी मालूम नहीं मरना किसे कहते हैं। मास्टर साहब के घर जाकर बच्चे आँखे तरेर-तरेर और चेहरे पर तरह तरह की भाव भंगिमाओं का चढ़ाव उतार दिखा-दिखा, उनकी पत्नी को समझा रहे हैं।

'एक बूढ़ा आदमी मर गया है। लोग उसे खाट पर सुलाकर, फूल माला से सजाकर गंगा में डुबाने ले जा रहे हैं।' मास्टर साहब की पत्नी पूछती है, 'कइसे रे, कइसे मर गया।'

छोटा बच्चा जीभ निकाल कर आँखें बन्द कर कहता है, 'ऐसे।'

बच्ची कहती है, 'चलो हमलोगों के साथ चलो, हम अभी दिखा देते हैं।'

लौटते वक्त सड़क खाली है, फिर बच्चा पूछता है, 'बाबा कहाँ गये लोग?'

'गंगाजी।'

'गंगाजी में डुबो देंगे।'

'फिर वह भागकर अपने घर नहीं चला आयेगा ?' बड़ी बच्ची भी पूछ रही है, 'वह तैरना नहीं जानता ?'

'तब वह, वहीं रहेगा ?' छोटा बच्चा हाथ हिलाकर पूछता है।

'नहीं भगवान के घर चला जायेगा।' मैंने कहा, 'चलो, बहुत फटर-फटर करते हो।'

फिर बच्चे घर जाकर बाड़ी के लोगों को बता रहे हैं, बरतन वाला बुढ़वा मर गया, लोग उसे गंगाजी में डुबो देंगे। वह भगवान के घर चला जायेगा।

बाड़ी के अन्य बच्चे पूछ रहे हैं, 'कैसे जायेगा भगवान के यहाँ, भगवान तो आसमान में रहता है।'

बड़ी बच्ची डाँटती है। मुँह बनाकर कहती है। 'के···से···जायेगा ? तैरकर जायेगा। नहीं तो लाल परी आयेगी और अपने घोड़े पर चढ़ाकर ले जायेगी।'

सुबह के आठ बजे। घर से बाहर निकलते ही सारा आकाश गूँजता हुआ सा लग रहा है, 'आई एम ए डीस्को डान्सर।' दोनों बच्चे मेरे दाये बायें चल रहे हैं—संगीत के स्वर पर थिरकने लगे।

'बाबा-बाबा, यहाँ क्या हो रहा है ?'

'यहाँ-यहाँ गाना हो रहा है। माइक्रोफोन पर।' दोनों बच्चे मेरे हाथों को हिलाते हुए नाचने की भंगिमा बनाने लगे। मैं नाच नहीं रहा हूँ पर मेरे हाथ और बच्चे नाच रहे हैं! पता नहीं यह नाच इन्होंने कहाँ सीखा है। मुझे भी आनन्द आ रहा है, उनके ताल पर ताल मिलाकर अपने हाथों को हिला रहा हूँ। मेरे हाथ काँप रहे हैं।

आगे बढ़ते ही तिरंगे पंडाल को देखकर बच्चों के मन की जिज्ञासा तीव्र हो उठी, बड़ी बच्ची ने आश्चर्य की मुद्रा में पूछा है, 'बाबा! बाबा!! यहाँ क्या हो रहा है।'।

शायद जो बूढ़ा उस दिन मर गया था, आज उसकी तेरही है। तरह-तरह का व्यंजन बन रहा है। कहीं तरकारी काटी जा रही है, कहीं आटा साना जा रहा है। कई चूल्हे जल रहे हैं - जलेबी, बुन्दिया वगैरह बन रहा है। घी के जलने की खुशबू दिशा-दिशा में फैल रही है। पंडाल के बाहर-भीतर बच्चे दौड़-धूप मचाये हुए हैं। बच्ची ने कहा, 'बाबा, यहाँ क्या बन रहा है ?'

'यहाँ, यहाँ मिठाइयाँ बन रही हैं।'

'क्यों, ये मिठाइयाँ क्या होंगी?'

'ये, मेहमान लोग खायेंगे।'

'हमलोग मेहमान नहीं ?'

'नहीं, हमलोग मेहमान नहीं हैं। जो लोग बूढ़े को गंगा में दहाने गये थे, वे लोग खायेंगे?

'क्यों, हमलोगों को नहीं मिलेगा?'

मैंने कहा, 'नहीं, तुम लोगों को नहीं मिलेगा।'

छोटा बच्चा अब तक चुप सब कुछ सुन रहा था। अपना हाथ छुड़ाने का प्रयास करते हुए, ऐंठकर बोला—'मैं भी मिठाई खाऊँगा।'

बड़ी बच्ची ने बड़ों जैसी गम्भीर मुद्रा बना ली। वह छोटे बच्चे से अपने को ज्यादा जानकार समझती है। बोली, 'बाबा, ये लोग मिठाइयाँ क्यों खिला रहे हैं?'

मैंने कहा, 'उस दिन जो बूढ़ा मर गया, आज उसकी तेरही है। इसीलिये आज यह खाने-पीने का इंतजाम है।'

वह मचल उठी, 'बाबा, तब तो बड़ा अच्छा है। आप भी मर जाइयेगा तो क्या ऐसा ही खाना बनेगा?

'हाँ, ऐसा ही बनेगा।'

दोनों बच्चे एक साथ तालियाँ बजा-बजाकर नाचने लगे, 'आह, तब तो बड़ा मजा आयेगा?'

छोटे बच्चे ने कहा, 'बाबा, क्या-क्या मिठाइयाँ बनेंगी?'

'पन्तुआ, सन्देश, जलेबी, बुन्दिया और सिंघाड़ा, पूड़ी वगैरह-वगैरह'।

छोटा बच्चा उछल पड़ा, 'तब तो हम खूब खायेंगे। बाबा, आप कब मरियेगा?'

'बहुत जल्द!'

बड़ी बच्ची परामर्श दे रही है, छोटे बच्चे को, 'देख बाबू, हम भी खायेंगे और बाबा को भी खिलायेंगे। बाबा, आप भगवान के घर से आ जाइयेगा। हमलोग एक साथ मिलकर मिठाई खायेंगे।

'हाँ, परी के घोड़े पर चढ़कर।'

# छेदीलाल गुप्त

**प्रसंग : आत्म-हत्या**

अन्धेरे में घिरी रात। हाथ को हाथ न सूझे। चारों तरफ़ सन्नाटा। साँय-साँय। दरवाज़े पर किसी की दस्तक पड़ रही हो, रुक-रुक कर, तब कोई क्या सोचे? सिवा इसके कि किसी ख़तरे के सामने खड़े हैं। मगर ऐसी—कोई बात नहीं थी। दरवाज़ा धीरे-धीरे ज़रा-सा खोलकर देखा तो नमिता खड़ी थी। इतनी रात को।

यह कहानी उसी लड़की की है जिसका नाम नमिता है। अभी कई महीने पहले जिसकी हथेली पर मेहंदी रची गयी और गले में मंगल-सूत्र पड़े और मांग सिन्दूर से भरी गई है।

नमिता सामने खड़ी थी—मैं दरवाज़े के भीतर और वह बाहर।

मैंने पूछा—इतनी रात को?

वह बिना उत्तर दिये मुझे एक तरह से धकेलती हुई दरवाज़े के अन्दर आ गयी। उसी ने दरवाज़े का पल्ला बन्द किया और कुछ क्षण आँखें बन्द किये राहत की सांस लेकर हँसते हुए बोली—'तुम्हें अचरज हो रहा है न? घबराओ नहीं, डरो भी नहीं। सवेरा होते ही मैं चली जाऊँगी।'

मैं दीवाल से सटा खड़ा सोच रहा था नमिता सवेरा होते ही चली जायेगी। मगर मैं अगल-बगल को क्या जवाब दूँगा। वह कौन थी? रात तुम्हारे कमरे में बिताने वाली। मैं क्या कहूँगा। ये गुण तो तुम में नहीं थे। यह कौन सुनेगा कि भाई वह एक मुसीबत जदा लड़की थी, जो सवेरे की तलाश में भटकती हुई रात भर पड़ाव डाले रही। कोई मानेगा भला।

नमिता को मैं धक्के देकर कमरे के बाहर निकाल भी नहीं सकता था। क्योंकि वह मेरे परिचित मास्टर साहब की लड़की थी। एक ऐसे बाप की लड़की जिसकी कमाई में समाई का दायरा बेहद बड़ा हो—फैला हुआ—दो लड़के बेकार, नमिता से छोटी दो बहनें अन-ब्याही। किराये के दो कमरे। इधर खाट, उधर बिछावन, वहाँ अंट-संट की भीड़। रसोई में बदरंग काले छोटे-बड़े कनस्तर और डिब्बे, जो रोज झड़-पुंछ जाते। ऐसे घर की लड़की नमिता।

यह भी मैं जानता हूँ, कि वह जिस घर में बहू बनकर गयी, वह घर सम्पत्तिशाली नहीं तो चार बेटों की सम्भावित सम्पत्ति का घर है। जिसमें बड़े देवेन्द्र की बहू बनकर नमिता गयी।

एक खूबसूरत लड़की के साथ-साथ दिया सब कुछ गया—पलंग, आलमारी, पंखा, गद्दा-तोषक, अर्तन-वर्तन, टेप-रिकार्डर, छः भरी सोना और पन्द्रह हजार नगद।

नमिता बहुत खूबसूरत नहीं है मगर उसे बदसूरत भी नहीं कहा जा सकता। तन बदन, नाक नक्श सब में सुघड़।

वह अब तक दरवाजे के पल्ले से उठगी खड़ी हँस रही थी।

मेरी नज़र उसकी छापे की साड़ी पर गड़ी थी। उसके आते ही कमरे में मिट्टी के तेल की बदबू भर गयी थी। साड़ी यहाँ वहाँ से गीली भी लग रही थी।

वह अपनी जगह से हटी और कमरे में फर्श पर बैठ गई, बड़ी आसानी से उसने कहा—सुनो मैं नाम नहीं जानती, मगर कुछ-कुछ पहचानती हूँ।'

यों मेरा शहर ही मुझे नहीं पहचानता।

वह बोली—'हाँ कुछ कुछ जानती हूँ। आप लिखते-विखते हैं न, लेखक हैं।

मैं क्या कहूँ क्या नहीं यह समय नमिता से जानने का नहीं। यह मान लेने का है कि मैं बड़े खतरे में हूँ। सवेरा होते ही लोग यह जान लेंगे कि एक लड़की मेरे कमरे में रात भर रही। उस लड़की की साड़ी मिट्टी के तेल से भीगी रही यानी उसे मैं जलाकर मारने की फिराक में रहा।

मैंने एक गहरी साँस लेकर कहा—'देवी जी मुझ पर दया कीजिये, सबसे पहले अपनी यह साड़ी बदल डालिये और···और।'

'और क्या लेखक जी इतने से ही घवड़ा गये। अरे यह तो पूछते कि मैं क्यों आई और आई तो इस तरह क्यों ? आज की दुनिया में तो हम जैसों के लिये वहुत दरवाजे खुले हैं। आप ही को दरवाजा क्यों खटखटाया' ?

मैंने घड़ी की तरफ देखा, अभी दूध देने वाला ग्वाला और वर्तन साफ करनेवाली मालती के आने में तीन घण्टे की देर है। मैं सोचने लगा इसके बाद रात उजाले में वदल जायेगी और सन्नाटा गुलजार हो जायेगा। नमिता को मैं कहाँ छुपाऊँगा। कव तक, किस-किससे, कैसे ? मेरे चारों ओर धिक्कार के स्वर में बार-बार पड़ोसियों के यह कहने की आवाज गूंज रही थी—कायर व्याह नहीं करता, डोरे डालता है और आवारा लड़कियों को ला ला कर गन्दगी फैलाता है। अरे वाल ब्रह्मचारी जी, आजीवन कुँवारा रहने का व्रत ? ढोंगी कहीं का ढोंगी ढोंगी···।

वह कहने लगी :—

'मैं कुल्टा, कलंकिनी वेहया उल्लू। यह तो मेरी कहानी का अन्त है। शुरूआत यहाँ से होती है कि खिड़की से चाँद झाँक रहा हो। और सोने के कमरे का पलंग खिड़की के पास हो खिड़की के पार सड़क लम्वी दूर तक नजर आये। हर शाम आते जाते जोड़ी दीखे तब किसका मन नहीं करता कि अपने उनके साथ हवा में आँचल विखेरे।

और अब वे, मेरे वे दिन भर के वाद रात दस वजे कमरे में आते, जबकि हाँ, मुझे भी कभी इसके पहले फुरसत नहीं मिलती, सब करती हुई भी कुछ नहीं करने का उलाहना मिलता—अरी देख वहू जरा जांगर चलाया कर, तू तो काम करना ही नहीं चाहती—कपड़े धोकर डाल दिये न, वर्तन में तो जूठ लगे ही हैं। मेरे भाग्य में तू ही वदी थी, कौन-सा पाप किया था भगवान······

देवर जी कहते—हूँ भाभी को टिंडे की तरकारी वनानी ही नहीं आती, अजीब है, मूंग की दाल में छोंक लगायेंगी तो कभी मिर्च का फोरन जलाकर कभी कच्चा ही। धत्तेरे की।

वे आते और सीधा पलंग पर लेट जाते।

कहती, सुनते हो······

'सोने भी दो नींद हराम क्यों करती हो सो जाओ'।

'नींद नहीं आती सुनो न'······

'करवट ले लेते। वे इतने बुरे नहीं हैं। बस वे बेकार हैं—सलीके की कोई नौकरी नहीं मिली, न करते हैं। ससुर जी की कमाई से सब चलता है। पिता से आँखें चार नहीं कर पाते, माँ के आगे मुँह नहीं खुलता। यानी ले देकर एक आदमी है वे !

'बेबसी बड़ी बुरी चीज है, है ना ?'

नमिता ने यह प्रश्न मुझ से किया···मैंने कहा—'सब बुराई की जड़ तो यह बेबसी ही है।'

'हाँ,' नमिता बहुत अघाकर बोली—'हाँ, आप ठीक कहते हैं।'

जानते हैं बेबसी में ही मैंने अपने तन पर मिट्टी का तेल उड़ेला और जब लहक जाने के लिये छत पर गयी तो याद आया, क्या याद आया ?···'

मैंने झुंझला कर कहा—'मैं क्या जानूँ ?'

नमिता हँसी। मुझे यह सब बड़ा अजीब-सा लग रहा था।

'अरे आप बिगड़ते क्यों हैं ? मुझे याद आया, वह कुछ सोचने लगी, अचानक बोली—'आप कोई पत्रिका भी तो निकालते हैं ? मेरे पिताजी को आपने उसका एक अंक दिया था। दिया था न ?'

उत्तर में मैंने, 'हूँ···ऊँ' किया।

'याद आया, उसी में लिखा है—सास-ससुर के जलाने से जलनेवाली बहुयें उनका मुँह क्यों नहीं नोच लेतीं चिल्लाती क्यों नहीं समय रहते ऐसे परिवेश से निकल क्यों नहीं जाती। कोई जलाये और हम खड़े-खड़े जल जायें आत्म-हत्या कर लें। ऐसा वे ही करते हैं जिनकी आत्मा मरी हुई होती है।

'मेरी आत्मा मरी नहीं है लेखक जी इसीलिये मैं कुल्टा कलंकिनी और बेहया हूँ। हूँ—न ?'

नमिता के इस प्रश्न का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है, किसी को ऐतराज हो तो कहानी को यह मोड़ दूँ कि एक बेटे की बहू का आत्मोत्सर्ग दूसरी बहू के साथ आने वाली सम्पत्ति का विकास नहीं है, क्या ?

मगर नमिता का क्या करूँ ? जो अभी भी दरवाजे पर टिकी है। बाहर उजाला फैल चुका है। ग्वाला दूध देने आया है और जिसने दूध लिया, स्टोव जलायी, चाय बनाने लगी। महरी आयी तो चौका खाली कर दिया। इस नमिता को क्या करूँ ? यों मेरी समझ में यही आता है कि नमिता न कुल्टा है न बेहया, न कलंकिनी। वह है बस है। ●···

# मार्कण्डेय सिंह

## नयी भूमिका

—मास्टर साहेब आइगइलन।

—आइगइलन ?

—हाँ आज दोपहरवाली गाड़ी से आए हैं।

मास्टर साहेब के गाँव आने पर रामरतन बहुत खुश होता है, और इस बार का तो उनका गाँव आना उसके लिए विशेष महत्व रखता है। मास्टर साहेब यानि सूरजबाबू, सूरजबाबू इस गाँव के अच्छे खाते-पीते लोगों में से हैं। लेकिन हैं प्रगतिशील विचार के। उनका अपना एक छोटा परिवार है। पिताजी तो नहीं हैं लेकिन माँ अभी हैं। माँ के अतिरिक्त परिवार में पत्नी और एक छोटा लड़का है। एक लड़की की शादी दो वर्ष पहले ही कर चुके हैं। खेती-बारी का काम देखने के लिए एक भरोसे का आदमी रख लिए हैं

और अपने खुद कलकत्ते में रहकर एक स्कूल में पढ़ाते हैं। गाँव से उनका इतना लगाव है कि दो चार दिनों के लिए भी स्कूल बन्द होने पर सीधे गाँव भागकर चले आते हैं। गर्मी और पूजा की छुट्टी की बात तो कुछ और ही है। पूरे दो-ढाई महीने गाँव में जमकर रहते हैं। उनके आने पर गाँव की गतिविधि में कुछ रौनक आ जाती है—खासकर निचले तबके के लोगों के लिए। रामरतन की तो जैसे ज़िन्दगी लौट आती है। मास्टर साहब ही गाँव में के बाबुओं में अकेले हैं जो उसकी बातों को समझते हैं और उसमें उसका साथ भी देते हैं। और लोग तो यही कहते है—ई चमार-सियार ससुरा चला है लीडर बनने…जब देखो तब क्रांति की बातें करता रहता है और होने जाने वाला कुछ नहीं है। लेकिन रामरतन क्या चीज़ है मास्टर साहेब अच्छी तरह जानते हैं। वह एक पढ़ा-लिखा युवक है। आज से तेरह-चौदह वर्ष पहले ही मैट्रिक पास किया था। अगर चाहता तो कबका अपनी जाति की दुहाई देकर किसी सरकारी नौकरी-चाकरी में लग जाता, लेकिन वह ऐसा नहीं कर सका। और तभी से पिछड़े वर्ग के संगठन में जुटा हुआ है। उसके सहयोग से ही गांव के सभी गैरमजरूआ जमीन पर भूमि-हीन खेतीहर मजदूरों का दखल हुआ था। उसके घर की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। मुश्किल से चार-पाँच बीघे अपनी ज़मीन होगी और कुछ जमीन बनवस्ती पर लेकर उसके काका उसमें खेती करते हैं और अपनी तकदीरको कोसते रहते हैं। रामरतन से उनकी बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं जिस पर उसने साफ पानी फेर दिया था। उम्मीदें होंगी क्यों नहीं ? अपनी ही बिरादरी के उसके साथ पढ़े-लिखे लड़के अभी दो-चार रुपयों के आदमी हो चुके हैं…अपने माँ-बाप को रेल में फ्री घुमाकर तीरथ करवाते हैं और एक वो है कि इस उम्र में भी बैल का पुठ मल रहे हैं। फिर भी मास्टर साहेब की बातों से उन्हें कुछ राहत मिलती है। मास्टर साहेब जब भी गाँव आते हैं इनसे घंटों बातें करते हैं और उन्हें भरोसा दिलाते हैं कि उनका लड़का रामरतन ने अपने लिए एक अच्छा रास्ता चुन लिया है…एक न एक दिन वह बड़ा आदमी जरूर होगा, उस समय वह सब कुछ भूलकर केवल मास्टर साहेब की बातें सुनते हैं। खेत में उस समय हल लिए बैल को पागुर मार रहे होते हैं और वह खेत के डारर पर मास्टर साहेब के साथ बैठे उनसे देश-विदेश की बातें सुनते रहते हैं।

चईत महीने के शुरू-शुरू के दिन हैं। पेड़ों के पत्तों का झड़ना शुरू हो गया है। फिर भी हवा में ठण्ड की तासीर अभी बाकी है। थोड़ी देर यात्रा

की थकान मिटाकर मास्टर साहेब अपने दालान के बाहर चबूतरे पर आकर बैठ गए हैं। सूरज अब ढलने वाला है। बयार धीरे-धीरे वह रही है। बयार के कुछ तेज होते ही नीम के पत्ते झड़ने लगते हैं। पता नहीं यह कैसा मौसम है कि मन अनायास ही उदास हो जाता है। मास्टर साहेब बार-बार अपने सिर के बालों को सहलाते हैं। गुनगुनाने की भी कोशिश करते हैं, लेकिन मालूम नहीं क्यों एक अन्दरूनी खालीपन उनकी अस्मिता को दबोचे हुए है। ऐसा लगता है कहीं कुछ उनका खो गया है। स्टेशन से घर आते हुए रास्ते में उनके एक अपने बहुत से छोटे बड़े भाई दैयाद से मुलाकात हुई थी, लेकिन किसी के चेहरे पर इतने दिनों के बाद मिलने की गरमाहट नहीं थी जो अपने लोगों के चेहरे पर होती है। यह अहसास उन्हें अपने भीतर ही भीतर कहीं कचोट गया था। लेकिन तत्काल ही उन्होंने भांप लिया था कि रामरतन जरूर गाँव में कोई न कोई गुल खिलाया है जिससे सभी नाराज हैं। यह कोई नई बात नहीं थी। वे लोग अक्सर उससे नाराज ही रहते हैं। उनका मानना है कि इनके चलते ही रामरतन गाँव में कभी-कभी खुराफात करता रहता है। इसी बात की थाह लेने के लिए ही अपने दालान के बाहर, इस उम्मीद में कि कोई न कोई जरूर मिलेगा जिससे गाँव की पूरी खबर मिलेगी, वे चबूतरे पर आकर बैठ गए थे। तभी कुछ दूर पर रामकिशन दिखाई दिया था। दूर से ही उसे देखकर अनुमान लगा लिया कि वह जरूर उनसे ही मिलने आ रहा है।

पॉकेट से एक चारमिनार सिगरेट निकाल कर उन्होंने उसे जलाया और सिगरेट का कश लेते हुए उसका इंतजार करने लगे। रामकिशन अभी छात्र है। इस इलाके के नोनिया जाति में वह पहला युवक है जो शहर जाकर कॉलेज में पढ़ रहा है। वह केवल किताब की पढ़ाई ही नहीं पढ़ता बल्कि जीवन की भी पढ़ाई पढ़ता है। शहर के रिक्शा यूनियन का वह सेक्रेटरी है। समय-समय पर वह उनके अधिकारों के लिए लड़ता भी है जिसके चलते आपातकाल में उसे जेल भी जाना पड़ा था। मास्टर साहेब की वह बहुत इज्जत करता है। जब भी उनके आने की खबर मालूम होती है, दौड़ता हुआ उनसे मिलने के लिए आता है।

— प्रणाम मास्टर साहेब, नजदीक आते ही उसने दोनों हाथ जोड़ दिये थे।

—स्वस्थ हो न रामकिशन ?

—सब आपकी दुआ है, मास्टर साहेब।

—आओ, बैठो। उसकी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—और सब सुनाओ गाँव की क्या खबर है ?

—हमलोग आपका ही इंतजार कर रहे थे।

—कोई नई खबर है क्या?

—कुछ नया तो जरूर है। इतना कहकर वह उनकी तरफ एक बार देखा था वैसे—आपके लिए नया कुछ नहीं है लेकिन यहाँ के कुछ बाबुओं के लिए उसका खास महत्व है। रामरतन ने पिछले दिनों ऐलान कर दिया कि चमार टोली का कोई आदमी अब किसी के घर मरा मवेशी उठाने नहीं जाएगा। जिसकी काफी तेज प्रतिक्रिया बाबुओं की मंडली में हुई है।

—अब समझा। मास्टर साहेब अपनी सिगरेट का अन्तिम कश लेते हुए बोले—तभी सभी मुझसे मिलने से कतरा रहे हैं।

—रामरतन से कोई गलती तो नहीं हुई, मास्टर साहेब?

—अरे, इसमें गलती क्या है? यह सब बहुत जरूरी है, अपनी गन्दगी खुद साफ करना अब लोगों को सीखना चाहिए···सफाई का काम एक विशेष वर्ग ही करेगा अब ऐसा नहीं चलने वाला है।

—मास्टर साहेब यह बात उस समय रंग लाई जब रामलखन सिंह का बछड़ा उनके दालान में ही मर गया। उनके लाख प्रयत्न करने के बावजूद कोई भी चमारटोली से उस डांगर को उठाने नहीं गया था। अन्त में लाचार होकर उन्हें ही अपने सवांगियों को लेकर उसे उठाना पड़ा था। उसी रोज से गाँव में कुछ तनाव बना रहता है।

—तनाव तो रहेगा ही क्योंकि उनके अहम् को ठेस लगी है। उनके माथे को ठंडा करने का यह एक अच्छा तरीका है···और रामरतन कहाँ है?

—उसने ही बताया कि आप आए हुए हैं और मुझे आपके पास भेजा है। उसकी बहन की शादी आज ही है न। इसलिए बहुत व्यस्त है।

—आज ही शादी है?

—आपको मालूम नहीं? वह तो बता रहा था कि आपके पते पर निमंत्रण भेजा जा चुका है?

—मुझे तो वह पत्र नहीं मिला है, खैर जब आ गया हूँ तो···

रामकिशन उनकी बात को बीच में ही रोक कर कहने लगा था—लेकिन गाँव वाले तो यही समझते हैं कि आप उसकी बहन की शादी के लिए ही खासकर आए हुए हैं।

—तभी न, सभी मुझसे मुँह फुलाये हुए हैं···यहाँ तक कि माँ ने भी ठीक से बातचीत नहीं किया है।

—इस बार इन्हें एक और झटका देना है। रामकिशन जैसे उनके कान में फुसफुसाता है—हमारी योजना है कि इस बार हम दोनों उनकी पाँति में एक साथ बैठकर उनके साथ भोजन करें। तब देखिए इन लोगों की छट-पटाहट।

रामकिशन की बात सुनकर मास्टर साहेब सकते में आ गए। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि बात इतनी जल्द यहाँ तक पहुँच जाएगी। वह भौचक्के-से एकटक रामकिशन को देखने थे।

—हाँ मास्टर साहेब। यही मौका है। आप क्या सोच रहे हैं? इस बार जातीयता की सारी दकियानूसी को एक झटके से समाप्त कर देना है। वहाँ से चलने के लिए खड़ा होते हुए वह बोला था—आपसे फिर रामरतन के यहाँ ही मुलाक़ात होगी…अभी मुझे बाजार भी जाना है।

—तुम रामरतन से बोल देना कि अगर कोई चीज घटे-बढ़े तो वह गुलाब साह की दूकान से मँगवा लेगा। उसे मुड़ते हुए देखकर मास्टर साहेब सुगबुगाए थे—हिसाब-किताब पीछे होता रहेगा।

—आप निश्चिन्त रहिए। पहले उसे यह खबर देकर ही मैं बाजार जाऊँगा। यह कहकर वह वहाँ से मुड़ गया था।

वहाँ बैठे मास्टर साहेब यों ही उसे तब तक जाते हुए देखते रहे जब तक कि वह आँखों से ओझल नहीं हो गया।

करीब दो पहर रात बीत चुकी है। पुरवइया धीरे-धीरे बह रही है। गाँव के दक्खिन चमार टोली में लौंडों का नाच हो रहा है। किन्तु राजपूत पट्टी में सुत्ता पड़ गया है। केवल मास्टर साहेब जाग रहे हैं। उनकी आँखों में नींद नहीं है। कभी बिस्तर पर लेटते हैं तो कभी उठकर अपने दालान के बाहर सहन पर टहलने लगते हैं। वह अभी तक रात का भोजन भी नहीं किए हैं। भोजन कैसे कर सकते हैं? उन्हें तो रामरतन के भोज में शामिल होना है। मगर अभी तक कुछ निश्चित नहीं हो पा रहा है। जब उनके साथ पाँति में बैठकर भोजन करने की बात सोचते हैं तो उनका माथा गरम हो जाता है। हृदय की धड़कन तेज़ हो जाती है और माथे पर पसीने की बूँदें उग आती है। ऐसी बात नहीं कि वह छुआ-छूत को मानते हैं और अभी तक किसी निम्नवर्ण के साथ बैठकर उन्होंने भोजन नहीं किया है। खुद रामरतन के साथ एक बेंच पर बैठकर उन्होंने भोजन किया है। बंगाल में रहकर तो न जाने किसके-किसके साथ उठे बैठे हैं। लेकिन अपने गाँव में चमारों के बीच

बैठकर भोजन करने की बात उनका मन स्वीकारता नहीं। न जाने क्यों अटपटा सा लगता है। भय। भय किस बात का है? उन्होंने आज तक अपने भाई-बिरादरी की कभी भी परवाह नहीं की है। हाँ, भय है तो केवल माँ का। उनकी पाँत में बैठकर भोजन करने की बात सुनकर पता नहीं वह क्या कर बैठेगी। वह इतनी संस्कारी है कि एक भूखे इन्सान के बदले गऊमाता को रोटी खिलाना पुन्न का काम समझती है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह उन्हें किसी बात को लेकर दुखाना नहीं चाहते हैं। पिताजी की मौत के बाद उन्हें जो दुख झेलना पड़ा था उसे यादकर आज भी वह सिहर उठते हैं। मास्टर साहेब टहलते-टहलते हठात् रुक जाते हैं। पत्तों के खड़खड़ाने मात्र से लगता था कि चमार टोली की तरफ से कोई आ रहा है। उस समय उनकी सारी इन्द्रिय—शक्तियाँ मात्र आँखों और कानों में आकर समाहित हो जातीं। हो सकता है रामरतन आ रहा हो। वह ऐसा अनुमान करते। लेकिन अन्त में वह उनका भ्रम साबित होता। फिर सोचते—मैं क्यों रामरतन का इन्तजार कर रहा हूँ? उसके आ जाने से क्या उसका साथ दे पाऊँगा? तभी पुरवइया का झोंका तेज़ हुआ था। पेड़ों पर बसेरा लेते पक्षी जोर से चहचहाने लगे थे। पक्षियों को इस तरह चहचहाते सुनकर उनको महसूस हुआ जैसे सुबह हो गई। अगर सुबह नहीं होती तो पक्षी इस तरह चहचहाते क्यों? अब क्या होगा? रामरतन और रामकिशन क्या सोचेंगे? उनके सामने अब कैसे खड़ा हो पाऊँगा? वह ऐसा सोच रहे थे। लेकिन उनके पैर तेज़ी से गाँव के बाहर की तरफ बढ़ रहे थे। गाँव से बाहर निकलकर उन्होंने अनुमान किया कि रात अभी बाकी है क्योंकि उस समय अभी पूरा गाँव सो रहा था। गाँव के अन्दर कुत्ते रह रहकर भौंक रहे थे। लेकिन चमारटोली की तरफ से नाच गाने की आवाज नहीं आ रही थी। हो सकता है उनका खाना पीना हो रहा हो। यह सोचकर उनके चलने की रफ्तार और तेज़ हो गई थी। ज्यों ही चमारटोली की तरफ मुड़े, उन्हें ऐसा अहसास हुआ जैसे राजपूत पट्टी के सभी लोग अपने-अपने घरों से बाहर निकल आए है और देख रहे हैं कि सूरजसिंह चमारों के भोज में शामिल होने जा रहे हैं। उस समय उन्हें रास्ते के सभी झाड़ियों के पीछे एक एक आदमी बैठा नजर आ रहा था। फिर भी वे कहीं ठिठके नहीं। उसी बदहवासी जैसी हालत में दौड़ते हुए रामरतन के घर के सामने ही जाकर रुके। लेकिन वहाँ कोई नजर नहीं आ रहा था। घर के अंदर एक गैसबत्ती रह-रह कर भभक रही थी। बाहर फेंके गये जूठे पत्तलों को लेकर कुछ कुत्ते आपस में झगड़ रहे थे। उन्हें यह समझते देर नहीं हुई कि सभी खा-पीकर अब

आराम कर रहे हैं। उसी बदहवासी की हालत में आवाज़ देने लगे—रामरतन !…रामरतन !

—कौन ? मास्टर साहेब। आइए…आइए।

—रामरतन, मैं आ गया।

—आप इतने घबराए हुए क्यों हैं ? सब ठीक तो है ?

—सभी ठीक ही है, रामरतन। रामकिशन कहाँ है ?

—वह तो शाम से ही साथ ही था…अभी-अभी अपने घर सोने के लिए गया है।

—सभी तो खा चुके…जो भी हो लाओ, मैं भी खाऊँगा।

—पहले आप बैठिए न।

—नहीं रामरतन, आज तुम्हारे यहाँ बिना खाए मैं अपने को माफ नहीं कर सकता…एक अपराधी अहसास मन को दबोचता जा रहा है।

—मास्टर साहेब, मैं आपकी संस्कारी मजबूरी को समझता हूँ। आपको अपने यहाँ जान बूझकर खाने के लिए मजबूर नहीं करना चाहता था। कारण कि सदियों से हम 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी' जैसे बुर्जुआ संस्कार में पलते आ रहे हैं। इतने भारी बोझ को सिर से एका-एक फेंक देना सभी के बस की बात नहीं है। आपसे तो मेरी कोई शिकायत नहीं…आपका सहयोग और प्यार तो मुझे शुरू से ही मिलता आ रहा है।

—इस समय मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता हूँ, रामरतन ! मुझे कुछ भी खिलाओ, नहीं तो लगता है कि मेरी साँस रुक जाएगी। उनकी इस हालत को देखकर रामरतन घबराहट में बोला था—अच्छा आप ठहरिए मैं अभी आया और तेज़ी से अपने घर के अन्दर चला गया था।

उसके बाहर आने में जितनी देर हो रही थी उतनी अधिक उनकी परेशानी बढ़ती जा रही थी। उस प्रसव पीड़ा जैसी बेचैनी में वे कभी उसके बरामदे से बाहर निकलते थे तो कभी अन्दर जाते थे।

एक हाथ में पानी का गिलास और दूसरे हाथ में लड्डू से भरा कटोरा लिए वह अभी कुछ दूर ही था कि मास्टर साहेब लपक कर आगे बढ़े और कटोरे को उसके हाथ से लेकर वहीं खड़े-खड़े लड्डू को खाने लगे। वह ऐसे खा रहे थे गोया बहुत दिनों के भूखे हों। पानी पीते थे और खाते थे। खाते थे और पानी पीते थे। रामरतन एक बच्चे की मानिंद अवाक उन्हें टुकुर-टुकुर खाते हुए देख रहा था। ●

# हर्षनाथ

## जब लाशें नीचे उतरती हैं

रूपमतिया ने कराहते स्वर में कहा—'ना दीपू के बाबू, मुझे अस्पताल न ले चलो। डागडर की दवा तो तुम ला ही रहे हो। पुरखा-पुरनियाँ का धरम सहाय होगा, तो मैं इसी कोठरी में अच्छी हो जाऊँगी। मुझे अस्पताल मत ले चलो।

जमुना ने उसे समझाते हुए कहा—'महीना भर से इस चटाई पर तू लेटी है। बुखार तेरा उतरा नहीं। अस्पताल में तरह तरह की मशीनें हैं, डाक्टर, मेमें हैं, सब जाँच परताल करके तेरा इलाज होगा। तू अच्छी होकर जल्दी घर लौट आयेगी। नीचे रामजतन रिक्सा लेकर खड़ा है। चल अब और देर मत कर।'

यह कह कर जमुना ने सहारा देकर उसे बैठा दिया। इस बैठने के जरा से श्रम से भी रूपमतिया थक गई। सहारे के लिए उसने अपनी दोनों सूखी बाहें अपने पति के कंधे पर डाल दीं और दो पल रुक कर उसकी आँखों में देखती हुई बोली—'अब काहे बेकार का रुपया खरच करोगे। कितना कर्ज अपने माथे पर लादोगे। दीपू को पढ़ा लिखा कर मानुस बनाना। अब मैं बचूँगी नहीं। यहीं रहने दो।'

तब तक रामजतन भी नीचे से सीढ़ियाँ चढ़कर आ गया। बोला : 'अब क्यों देर कर रहे हो? चलो, जमुना भाई।'

जमुना ने दोनों हाथों में अपनी पत्नी को गोद में उठा लिया। उसके सूखे, मुरझाये मुँह को देखा, निस्तेज, डबडबाई आँखों को देखा और आँखों के कोये में अँटके आँसुओं के दर्पण में उसने बीते समय की परछाईं देखी—जब रूपमतिया का डोला उसके आँगन में उतरा था, तब वह कलोर गाय की तरह थी। हर एक अंग साँचे में ढला और उम्र पन्द्रह नहीं तो सोलह साल। और अब ? अब इन पन्द्रह-सोलह वर्षों में वह रूपमतिया कहाँ चली गई। गाँव की मड़ैया से उठकर इस शहर की एक बस्ती की खोलाबाड़ी में आई और, जब वह इस मकान का दरबान बन गया तो खोलाबाड़ी से उठकर इस मकान की छत पर टीन की दीवारों और टीन की छाजन की इस कोठरी में आ गई, यहीं एक एक कर चार बच्चे हुए। लेकिन बचा केवल दीपू। चार साल का लड़का।

रामजतन को देखकर रूपमतिया ने उससे कहा—'अब अस्पताल हमें क्यों ले जा रहे हो बबुआ ? और करजा बढ़ेगा'।

यह कह कर निरीह भाव से वह रामजतन की ओर देखने लगी। जमुना की पुश्तैनी चार कट्ठा जमीन जब दो सौ रुपये में उसके अपने विवाह में गिरवी पड़ गई तो इसी रामजतन के साथ वह शहर चला आया था।

जमुना ने अपने मन का बोझ बताया था—दो सौ रुपये का कर्ज उतारना है। उसका सूद बढ़ रहा है, चवन्नियाँ रुपया सूद है। फिर सूद पर सूद।

रामजतन रिक्शा खींचता था। जमुना को भी उसने एक रिक्शा दिला दिया। दो-चार दिन उसने रात में सूनी सड़कों पर उसे हाथ-रिक्शा खींचना सिखा दिया—कैसे झुककर जोर लगाते हैं और कैसे हाथ की घंटी को हत्थे पर हल्की चोट मारकर टुन-टुन बजाते हैं।

दोनों एक साथ रहते। दो क्या सब सात आदमी थे। गली की ओर खुलती गैरेजनुमा एक कोठरी थी। उसमें अल्म्युनियम की बड़ी बटलोई में मोटा चावल उबाल कर भात बनाते और आलू का झोल, फिर हरी मिर्च। कोई दिन में रिक्शा चलाता, कोई रात में जिस दिन शहर में हड़ताल रहती, या गली मुहल्ले का कोई मस्तान-गुंडा मारा जाता, उस दिन रिक्शा चलाना बंद हो जाता। उस दिन उस गैरेजनुमा कोठरी में गोदाम में बोरों की तरह एक से आदमी सट कर सो जाते, जैसे किसी ने उनकी पैकिंग की हो। तब जमुना और रामजतन दोनों पास-पास सोते और उनकी दुनिया-जहान की बातें खत्म ही नहीं होतीं।

कुछ दिनों के बाद जमुना को बदली पर दरवानी मिल गई—एक सेठ के मकान में, जिसमें व्यापारियों की गद्दियाँ थीं। जिनमें मुनीम कम और टेलीफोन ज्यादा थे। अपनी तोंद पर हाथ फेरता सेठ डकारें लेता रहता और दोनों हाथों से दोनों कानों पर टेलीफोन लगाये—'खरीदो-वेचो', 'खरीदो-वेचो' करता रहता। साधारण आदमी की बुद्धि के परे की वात थी कि क्या क्या खरीद-विक्री हो रही है।

सेठ के यहाँ जव कर्मचारियों की संख्या बहुत वढ़ती तो चार पाँच हो जाती, नहीं तो एक मुनीम, एक टाइपिस्ट और दरबान। यहाँ नौकरी के मुश्तकिल होने और न होने में कोई फर्क नहीं था। काम करो तो तनखाह लो, न करो तो नहीं, फिर न सालाना छुट्टी की तनखाह, न बोनस, न प्राविडेन्ट फंड—कुछ कुछ वही हालत थी, जो रिक्शा खींचने में थी। काम करो तो दाम मिले। लेकिन यहाँ छत पर उसे टीन के शेड की एक कोठरी मिली, जिसमें वह अपनी स्त्री रूपमतिया के साथ रह सकता था। गाँव पर और तो कोई था नहीं, अकेली जवान पत्नी किसके सहारे रहे।

अस्पताल का वड़ा फाटक तव भी दिन-रात खुला रहता था, अव भी खुला रहता है। इसी तरह इमरजेन्सी वार्ड भी दिन रात खुला रहता है और लाल लाल रोशनी में चमकता इमरजेन्सी वार्ड का वोर्ड मन में एक दहशत पैदा करता है, पांच सौ शैय्याओं के अस्पताल में ज्वर से ग्रस्त सामान्य रोगी हैं तो तरह तरह के रोगों के जाल में फँसे-उलझे मरीज भी हैं, जिनके रोग का सही कारण और निदान खोज पाने में एम. डी. और एम. आर. सी. पी. की ऊँची डिग्रियाँ वटोरे चिकित्सक हैरान रहते हैं, इन्टेन्सिव कार्डियक केयर यूनिट में हृदय रोग के ऐसे मरीज हैं, जिनकी वाहर निकली श्वास आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के तमाम उपकरणों और ज्ञान के वावजूद फिर वह भीतर आकर धड़कन वनेगी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। सर्जिकल वार्ड में हाइड्रोसील और हार्निया जैसे साधारण आपरेशन वाले मरीजों से लेकर पेट और छाती के आपरेशन के वड़े और कम्प्लीकेटेड आपरेशन के केस भी हैं, जिन्हें एफ. आर. सी. एस. अनुभवी सर्जनों को चकमा देकर झपट्टा मारने के लिए मौत कोने में खड़ी रहती है और इसी प्रकार उनकी खाली हो जाने वाली वेडों पर स्थान पाने के लिए नीचे काउन्टर पर मरीजों और उनके अभिभावकों की भीड़ लगी रहती है—कोई खाली वेड मिले तो सही!

फिर भी इतनी हलचलों के वावजूद जिस तरह महानगर सोया पड़ा रहता है, अस्पताल भी अपनी समस्त गतिविधियों, हलचलों, जीवन-मरण की तरंगों

के घात-प्रतिघात को समेटे महानगर की हलचल से अलग-थलग पड़ा रहता है—न तो कोई जन्म उसमें उल्लास भरता है और न कोई मृत्यु हलचल पैदा करती है। जिस तरह महासागर में फेंकी एक कंकड़ी सीमित दायरे में दो-चार तरंगों का आवर्त डाल कर गुम हो जाती है। महाकाश के संख्यातीत तारों में कोई नया तारा जुड़ जाये या कोई तारा टूट जाये, तो इस विश्वब्रह्मांड में क्या हलचल डालेगा! सीरियस केस के लिए चिन्तित और परेशान घरवाले नीचे काउन्टर पर जब खाली बेड के लिए प्रतीक्षा करते रहते हैं, तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता और जब कोई मरीज दम तोड़ देता है या नोटिस बोर्ड पर टँगी कोई निरपेक्ष सूचना—'बेड नंबर···का मरीज मर गया', भी कोई हलचल पैदा नहीं करती, तब उस बेड के मरीज के अभिभावक अस्पताल के बजाय कब्रिस्तान या श्मशान के बारे में सोचने लगते हैं, जहाँ दफन होने या जलकर राख होने के लिए लाशें लाइन में पड़ी अपनी बारी का इन्तजार करती रहती है।

जमुना ने रिक्शे से उतार कर रूपमतिया को गोद में उठा लिया। रामजतन ने रिक्शा एक किनारे लगा दिया। जमुना को अस्पताल से कभी पाला नहीं पड़ा था। कभी साधारण ज्वर खाँसी के लिए आउटडोर विभाग में लाइन लगा कर उसने दवा ली हो, यह दूसरी बात है। इतनी सी जानकारी से अस्पताल में क्या कोई मरीज भरती करा सकता है? रामजतन जानकार था। अपने रिक्शे पर बैठा कर मरीजों को अस्पताल ले जाने का मौका पड़ता रहता था, उसने दौड़ कर इमरजेन्सी वार्ड के इंचार्ज के हाथ-पाँव जोड़कर स्ट्रेचर का इन्तजाम कराया—'मरीज़ बैठ भी नहीं सकता, दम निकल रहा है उसका।'

जब दो वार्ड ब्वाय ने रूपमतिया को स्ट्रेचर पर लिटा कर उठा लिया तो जमुना का हृदय घनी आशंका से भर गया। इस तरह तो झुला कर मुर्दा को चारपाई से उतारते हैं। इस तरह से क्यों उठा लिया! यहाँ आते आते मर गई क्या?

किन्तु इस अपशकुन के ख्याल ने उसे कोसा—अस्पताल में मरीज़ इसी तरह आते जाते हैं। यह बुरी बात कैसे उसके मन में आई। ज्यादा सोचने का वक्त नहीं था। इमरजेन्सी वार्ड में पहुँचते ही डाक्टर ने अपनी जाँच प्रारम्भ कर दी, देखा परखा और नाम पूछ कर लिखा दिया, बोला—ले जाओ, भरती कर दो।

और अपना स्थैस्टिकोप दूसरे मरीज़ की छाती पर लगा कर हृदय की धड़कन गिनने के लिए अपनी कलाई घड़ी पर नज़र टिका दी, एकदम निरपेक्ष जैसे आटोमैटिक मशीन अपने काम का अंजाम देकर स्वयं दूसरी जगह सरक गई हो।

जमुना ने सहमे हुए स्वर में पूछा—'डाक्टर साहब क्या रोग है? ठीक तो हो जायेगी'?

काम के बोझ से दवे, दिनरातमें सैकड़ों बार इस प्रश्न को सुनकर डाक्टर अक्सर झुँझलाये रहते हैं। उनके न चाहने पर भी झुँझलाहट और उपेक्षा भरा रूखा शब्द उनके मुँह से उछल पड़ता है—'कह दिया न, जाकर भरती करा दो, ठीक होना होगा तो हो जायेगी!'

अब कुछ पूछने-समझने का साहस जमुना का नहीं हुआ, लेकिन डॉक्टर के भरती करा देने का आदेश देने से ही तो कोई मरीज़ भरती नहीं पा जाता। अस्पताल में खाली वेड होनी चाहिए। अन्य मरीज़ भी तो इसी तरह भरती होने की पुरजी लिए रहते हैं, वेड खाली पा जाने से उन्हें भरती होने में देर नहीं लगती, जिनके पास पैसे रुपये हैं।

जमुना ने अपनी फटी अधवहियाँ की जेब में हाथ डाला और टटोल कर अन्दाज लगाने लगा, जब कि उसे मालूम था कि जेब में कुल पचीस रुपये और कुछ खुले पैसे हैं।

रामजतन ने दिलासा देते हुए कहा—'चलो काउन्टर पर, वावू से कहें, भरती का कागज बना दे।'

जमुना ने डरते डरते कहा—'खर्च लगेगा न! कुल पचीस रुपये हैं, वह भी टाइप वावू से कल तीस रुपये उधार लिए थे, उसी के वचे हैं।'

अस्पताल में साधारण वेड का चार्ज नाम मात्र का है। लेकिन इस शहर ही नहीं, इस देश के अधिकांश नागरिकों के लिए परिवार के किसी सदस्य के बीमार पड़ने पर खर्च करना भारी ही नहीं, औकात के वाहर भी है—जब कि इस मामूली चार्ज में मरीज़ के लिए दोनों जून का भोजन, चाय विस्कुट और दूध भी शामिल है। लेकिन अपनी अपनी औकात है, तभी तो किसी को इस अस्पताल में तीन सौ रुपया प्रति दिन का शीत ताप नियंत्रित कक्ष या बड़े नामी नर्सिंग होम में डेढ़ दो हज़ार का प्रतिदिन का खर्च भी सस्ता मालूम पड़ता है और किसी को प्रतिदिन का दस-पन्द्रह रुपये वेड-चार्ज भी मँहगा हो जाता है।

रामजतन ने अपनी जेब से सौ रुपये का एक नोट और खुदरा दो दो के नोट निकाले। बोला—'अभी का काम तो हम लोग चलायें। मैं जानता था, अस्पताल में बिना खर्च के एक डग भी कोई बढ़ नहीं सकता। फिर तुम अपने सेठ से कह कर अस्पताल की रिजर्व फ्री-बेड ले लो, पैसे वालों और फर्मों के बेड साल साल भर के लिए रिजर्व पड़े रहते हैं, उन पर कोई चार्ज नहीं लगता।'

जमुना की समझ में कोई बात नहीं आई। इस समस्या के समाधान की बात उसकी समझ के परे की बात थी। बोला—'आओ, भरती करा दें।'

फिर हारे हुए आदमी की तरह बोला—'दवा के रुपये भी तो चाहिए, सौ लगेंगे कि पचास, क्या मालूम?'

फिर भी उसांस छोड़ कर उसने कहा—'गाँव की जमीन सूद में न चली गई होती तो आज उसके दस हजार मिलते। तब लगता जितना खर्च, यह तो बच जाती। उतनी जमीन दो सौ में सूद के चली गई। चवन्नियाँ सूद बड़ा भारी होता है।'

रामजतन ने कुछ झिड़कते हुए कहा—बेकार की बात सोचने का समय अब नहीं है। अब तो यह देखना है कि भरती कैसे हो, भरती भर रुपया अभी है। खाली बेड कोई मिले तो, कोई मरीज...।'

आगे की बात अपने मुँह से निकालने का उसे साहस नहीं हुआ, अपने लिए किसी मरीज़ की मौत के बारे में सोचना अच्छा नहीं है। वह भी तो किसी की पत्नी, किसी का पति, किसी का इकलौता बेटा हो सकता है—मन के दबे कोने में यह आवाज़ उठते ही उसने आगे की बात पूरी नहीं की।

दो दिन में दवाओं में काफी रुपये लग गये। एक दवा कारगर नहीं होती तो, डॉक्टर दूसरी तीसरी दवा लिख कर प्रिस्क्रिप्शन थमा देता—'अभी तुरंत दवा ले आओ। केस सीरियस है!'

दो दिन में ही एक्सरे और खून-पाखाने-पेशाब की जाँच के खर्च अलग लगे थे। जमुना मन में हार बैठा था—अब जो ऊपर वाले की मरजी हो, हो। हम क्या करें। सब खर्च रामजतन ने जुटाये थे। अपने पास के पैसे और साथियों से माँग कर।

जमुना जब भी दवा का प्रिस्क्रिप्शन लिए दवा खरीदने जाता, अनायास उसके मन में हथौड़े की चोट की तरह धमक उठती रहती—मरीज का नाम : रूपमतिया, बेड नंबर ४१६, डाक्टर आर. एन. बनर्जी।

बनर्जी का नाम जीभ पर आते ही उसे अपने आफिस के बूढ़े टाइपिस्ट

की याद आ जाती—कितना नेक है। गरीब है। दो दो बेटियाँ सयानी ब्याह के लिए बैठी हैं। पर जब भी अपने लिए चाय मंगवायेगा, कहेगा 'जमुना, तुम भी पियो।'

उसके ना ना करते भी वह अपनी चाय की गिलास से मिट्टी के पुरवे में चाय ढाल देगा—कोई पेट भरने की चीज है, थकान और भूख मारती है। लो पियो जमुना भाई!

जमुना के मन में आता—यह डाक्टर भी तो बनर्जी है, जो रूपमतिया का इलाज कर रहा है। बनर्जी बहुत अच्छे होते हैं। यह डाक्टर बनर्जी भी अच्छा होगा। रूपमतिया जरूर ठीक हो जायेगी!

चौथे दिन मरीजों से मुलाकात के समय जमुना अस्पताल गया तो रूपमतिया को होश था। सूनी सूनी आँखों से जमुना को देख कर बोली—'बबुआ को नहीं लाये?'

जमुना ने कहा—'वह ठीक है। खेलता रहता है।'

रूपमतिया ने कहा—हाँ, अस्पताल में वह घबरा जायेगा। मुझे होश भी कहाँ था। अब मैं अच्छी हूँ। तुम आफिस से नागा मत करना, तनखाह कट जायेगी!

जमुना ने मन ही मन महावीर हनुमान जी को सवा सेर लड्डू का भोग चढ़ाने की मनौती मान दी। एक बार तो उसके मन में आया कि काली जी को जोड़ा खस्सी भी मान दे। बड़ी प्रतापी हैं। पर दो बकरे का दाम मन ही मन सोच कर हिचक गया।

दूसरे दिन वह अपनी ड्यूटी पर था। गद्दी से बही खाता उठा रहा था। तभी टेलीफोन की घंटी बजी। सेठ जी ने हेलो हेलो कर जैसे अचकचा कर पूछा—'अस्पताल? कौन अस्पताल?'

जमुना का दिल धक-धक करने लगा। बही खाता छोड़ कर वह फटी-फटी आँखों से सेठ जी को ताकता रहा। तब तक सेठ जी ने टेलीफोन रख दिया। बोला—'जमुना तुम अस्पताल चले जाओ'।

फिर निरपेक्ष भाव से पूछा—'कौन था अस्पताल में?'

जमुना ने काँपते स्वर में कहा—'हमारी जनाना थी बाबू, क्या बोल रहा था डॉक्टर?'

फिर उसने एक पल रुक कर साहस बटोर कर कहा—'एक महीने का वेतन एडवांस दे दीजिए बाबू, हमारी जनाना बहुत···।' आगे की बात वह पूरी नहीं कर सका।

सेठ जी ने ठंढे स्वर में कहा—'यहाँ एडवांस देने का नियम नहीं है। अभी तीन सौ रुपये तुम्हारे नाम खड़े हैं। पहले उसका हिसाब तो चुकता करो। फिर वात करना।'

यह कह कर उठ खड़े हुए, तंजेब के महीन कुरते को झाड़ा और चलने लगे।

टाइप वाबू ने अपने पाकेट में हाथ डाला। कुल वारह रुपये निकले—दस का एक नोट, और दो रुपये का एक तुड़ामुड़ा नोट। जमुना से वोला—'लो।'

सेठ जी जाते जाते रुक गये, उन्होंने अपमान महसूस किया। कड़क कर टाइपिस्ट से वोले—'अपना काम करो। सारा समय वातों में विता देते हो! तलपट टाइप हो गया? हिसाव मिलाना है।'

जमुना के मन में एक ही प्रश्न गूँज रहा था—रामजतन कहाँ होगा! आजकल वह रिक्शा उठाता है तो देर-सवेर नहीं देखता, जितना खट कर वचा सके, रूपमतिया के लिए दवा के लिए दे देगा।

अस्पताल के काउन्टर पर वावू ने जमुना से कहा—'वेड नंवर ४१६, चालीस रुपये वाकी हैं। रुपया जमा कर लाश ले जाओ। डेड वाडी ऊपर पड़ी है अभी वेड पर।'

जमुना का अवाक मुँह देख कर किसी ने सुझाया—सेक्रेटरी से मिल लो। शायद माफ हो जाये।

उसके मन में खौलते तेल की तरह यह वात गूँज उठी—लाश वंधक है? चालीस रुपये दो और छुड़ा लो।

अपनी अर्जी पर सेक्रेटरी का रिमार्क लेकर वह लौटा—'चालीस रुपये माफ किये जाते हैं। लाश छोड़ दी जाये।'

वेड नंवर ४१६ के तल्ले की सिस्टर-इंचार्ज ने जमुना से पूछा—'लाश उतारने के लिए तुम्हारे लोग आये हैं?'

जमुना का हताश मुँह देखकर फिर वह स्वीपरों से वोली—'डेड-वाडी मुर्दा घर में डाल दो।

दो स्वीपरों ने लाश को उतार कर स्ट्रेचर पर डाल दिया और चलने लगे—अव कहीं रुकावट नहीं थी। लिफ्ट का कोई इन्तजार नहीं करना था। कोलैप्सबुल गेट अपने आप दरवान विना कहे खोल रहे थे। अदव के साथ एक किनारे सट कर खड़े हो जाते और सीढ़ियाँ दर सीढ़ियाँ लाश नीचे उतर रही थी। अव कोई वाधा नहीं। लाश मुर्दा घर जा रही है। ●

**अनीस रफ़ी**
मदन सूदन (अनुवाद)

## 'ओखली'

मालिक आरामकुर्सी पर गिरा हुआ था। मालकिन कहीं किसी और सोफ़े पर। मालकिन किस सोफ़े पर हो सकती है। रुक्मिणी इस पर ज़्यादा ज़ोर न दे सकी। बस इस नतीजे पर पहुँची कि मालिक पुल के इस पार और मालकिन उस पार। इस पार या उस पार। मालिक और मालकिन के पास फ़ैसले हैं। पुल के इस पार या उस पार। मगर इसके पास। किस पार है वह! पुल के इस पार या उस पार?

दोनों तरफ़ मालकिन हैं। दोनों तरफ़ मालिक हैं। फ़र्क़ यह कि एक तरफ़ यह नंगे हैं तो एक तरफ़ चीथड़ों में। वह पक्के फ़र्श पर पाँव का अँगूठा आदतन रगड़ रही थी। इस पार आकर ज़रा एड़ियों को ज़रा आराम हासिल हुआ था।

धीरे-धीरे वह दोनों पार से ग़ायब हो गयी।

पैर के अँगूठे उन ज़ख्मों की याद दिला रहे थे जब मुखियाजी ने इसे इसकी मिट्टी की खोली से बेदख़ल कर दिया था। किस कड़ाके की सर्दी थी उस रात।

वहाँ भी एक मालिक था। एक नौकर भी था उस मालिक के पास। और वह एक दासी! मगर स्थायी तनख़्वाहदार नहीं थी। जब-जब मालिक को ज़रूरत होती वह हाज़िर की जाती। शादी के चार सालों में तीन दुबले-पतले बच्चों ने दम तोड़ा। मगर वह किसी तरह दम बचाये रही।

मिट्टी की खोली भी बची रही। यह मामूली सी सुरक्षा इसे इसलिए प्राप्त थी कि मालिक और इसके बीच एक और गुलाम वफ़ादारी की पूँछ हिला-हिला कर फ़र्श की पत्थरीली ज़मीन को साफ़ करता रहा था। रुक्मिणी चाहती थी कि इस वफ़ादारी में उसकी भी साझेदारी हो जाये तो इसका इस बार का बच्चा दुबला-पतला नहीं होगा और मौत से भी बच जायेगा। यह सोचकर उसने मालिक के घर कुछ ज़्यादा ही आना-जाना शुरू कर दिया था। मामिल के खानदान वाले पहले तो बहुत खुश हुए। मालकिन के बच्चों के दूध की कटोरी धोनेवाली एक और मिल गयी थी। वह उनकी कटोरियाँ धोते-धोते हल्कान हो गयी। मगर वफ़ादारी में साझेदारी की उम्मीद कहीं से नहीं झलक रही थी। बल्कि कभी इसके ज़्यादा आने-जाने से वह संदिग्ध हो जाती। कई तरह से। जैसे मालिक कुछ और शक में ग्रस्त होता और मालकिन कुछ और। वफ़ादार नौकर उसे तीसरी तरह देखता और बच्चे अपनी अपनी तरह से। कभी-कभी वह निढाल हो जाती काम करते-करते। यह कोई ज़रूरी नहीं था कि काम के बाद मालकिन उसे खाना दे ही दे। स्थायी तो न थी। खाना मिलता, मिलता, न मिलता। मगर फिर भी वह लगी रही कि एक न एक दिन मालकिन मेहरबान होगी। अगला बच्चा जाड़े में आयेगा। शौहर अगली बैसाख में। तब तक सब ठीक हो जायेगा। गर्मी गुज़र गयी। बरसात का मौसम भी बदल गया। मगर मालकिन के दिल का मौसम न बदला। पेट में बच्चा चलने लगा पर बदन पर खाल और मस्की हुई साड़ी के सिवा कुछ न था।

सर्दी धीरे-धीरे सन्दूक से सूती चादर, ऊनी चादर, सूती कम्बल, ऊनी कम्बल, दुलाई, रज़ाई निकलवाती जा रही थी। और उसके पास बची-खुची गर्मी के सिवा कुछ भी न था। फिर भी उसे उम्मीद थी कि बच्चा धान की फसल के एक महीना बाद होगा। तब तक वह मालिक के खलिहान में धान

पीटने की मजदूरी करके कुछ न कुछ कर लेगी। कम से कम एक वक्त का पेट भर खाना और तापने के लिए पुआल।

धान की फसल आते ही इधर-उधर हमेशा की तरह अनाज की चोरी का सिलसिला शुरू हो जाता। खलिहान वाले अपने-अपने अनाजों के ढेरों पर निशान लगाने लगते और निशान गड़बड़ हुआ कि चोरी हुई। इस पर बड़े गृहस्थ के बच्चे बड़े होशियार हो जाते। उनकी आँखें कूटने-पीटने वालों पर बुरी तरह जमीं रहतीं। मजाल कि एक दाना इधर से उधर हो जाये। रुक्मिणी भी कूटने पीटने पर नियुक्त थी। मगर औरों के मुकाबिले में यह ज़्यादा अनाज न पीट पाती क्योंकि वह तीन चौथाई ताकत आने वाले बच्चे पर सर्फ़ करती। एक चौथाई से क्या कमाये क्या खाये। बस किसी तरह इंच इंच ज़िन्दगी को खींच रही थी। दिन भर वह पिटाई में व्यस्त रहती तो जाड़े का एहसास नहीं होता मगर शाम ढले जब काम न होता तो उसमें कपकपी सी घुसने लगती। सर्दी और भी सख्त होने लगी। कमा कर जो पुआल हासिल करती उसका जलावन हो जाता। तापने के लिए आग कहाँ से आये। रात क्योंकर कटे।

इधर चार दिनों से रात गये लोगों को रुक्मिणी के घर से मूसल कूटने की आवाज मिलने लगी थी—धम! धम! धम! धम!

लोगों का शक बढ़ता जा रहा था। कहाँ से लाती है इतना धान और रात गये तक कूटती है। वफ़ादार नौकर की दुम में इस बात पर गुदगुदी होने लगी। वह दुम झाड़कर इस बात के पीछे पड़ गया। पीछे पड़ने की उसकी आदत पुरानी थी। मगर रुक्मिणी कई मामलों में बहुत सख्तगीर थी। साझे-दारी की कोशिश उसने ज़रूर की थी पर मालिक, मालकिन के सामने गिड़-गिड़ाई नहीं थी और उस गुलाम से न उसने किसी रिआयत की भीख माँगी थी और यही बात उस वफ़ादार को खटकती रही थी।

जब मूसल की आवाज़ रात में उठने लगी तो वह मालिक के बच्चों को जगाकर इसके घर के पास पहुँच जाता—"सुना बिटवा आवाज! पीटती तो सिर्फ़ आपके खलिहान में है। फिर इतनी ढेरी उसे कहाँ से मिल जाती है कि रात भर कूटे।"

एक सुबह खलिहान के अनाज की ढेरी का निशान गड़बड़ मिला। सबकी नजरें रुक्मिणी की तरफ उठने लगीं। मगर उसने कुछ ख्याल नहीं किया। अपने काम में लगी रही।

जब रात मूसल की आवाज़ रुक्मिणी के घर से फिर उठने लगी तो गाँव के मुखियाजी की आवाज सुनाई पड़ी—"क्या हो रहा है अन्दर?" रुक्मिणी घर से बाहर आई। लालटेन की रोशनी में उसके माथे पर अध-नंगे बदन पर पसीने की बूँदें चमचमा रही थीं।

"क्या हो रहा था, क्या कूट रही थी?"

"कुछ नहीं।"

"मालूम है, मालिक के खलिहान से अनाज कमती हो रहा है?"

"हाँ मालूम है।"

"इधर खलिहान से कमती हो रहा है और उधर तुम्हारी ओखली भरती जा रही है। चल हट सामने से तलाशी लेंगे।"

मुखियाजी तलाशी लेकर बाहर निकले तो उनके माथे पर पसीने थे। वफ़ादार ने पूछा—"कितना मिला मुखिया जी?" —"एक दाना भी नहीं, ओखली में सिर्फ मूसल थी, दाना एक भी न था।"

"सच सच बता क्या कूट रही थी?"

"बताया तो कुछ भी नहीं।"

"वह तो ठीक है पर ओखली में मूसल बरसने की आवाज धम, धम, धम, धम, वह क्या है?"

"हाँ, वह ठीक आवाज है। जब बहुत ज्यादा सर्दी लगने लगती है मुखियाजी, तब देह गर्माने के लिए खाली ओखली में मूसल मारने लगती हूँ, धम-धम, धम-धम जाड़ा भाग जाता है मुखियाजी।"

मुखियाजी के माथे पर जैसे पसीने की बरसात हो गयी और माथे के भीतर मूसल की मार धम-धम-धम-धम। फिर मुखियाजी ने आँखें लाल की और कहा—"पर गाँव का फैसला हो गया है, तू चोट्टन है, तू अपने मर्द के पास शहर चली जा।"

और वह शहर आ गयी। और आज पुल के इस पार है। मालकिन अब तक लापता थी। मालिक आरामकुर्सी पर खर्राटे ले रहा था। सबके सब इस पार या उस पार जाकर बसेरा कर चुके थे। मगर रुक्मिणी अब भी इस सवाल के सामने खड़ी थी कि "किस पार" फिर जैसे उसने फैसला कर लिया या एक फैसला खुद उसके पास कहीं से आ गया। मालकिन का दिया हुआ चमेल गले से नोच फेंका और मालिक की तोंद पर एक लात मारी। फिर! न इस पार न उस पार। चलो पुल पर ही घर बनाया जाए!!!! ●

डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र



## इक्कीसवीं सदी की अगुवानी में एक पाती

भाई माहेश्वरीजी,*

आपकी संस्कृति चिन्ता सहज है। यह आपकी तीव्र संवेदना के अनुरूप है। मैं यह नहीं कहता कि मेरी वेदना आपसे गहरी है, मगर चिन्तित मैं भी हूँ। मेरी स्पर्श-कातर प्रकृति को आप अपनी छोह-मुद्रा में कई बार टोक चुके

---

* कवि मित्र श्री शंकर माहेश्वरी के विचारोत्तेजक पत्र के जवाब में लिखा गया पत्र।

हैं। और बीच-बीच में इतना गहरा मज़ाक करते हैं कि मेरा स्नायुतन्त्र झनझनाने लगता है। आप जैसा भलामानुष न जाने किस उद्देश्य से मेरी भावना को छेड़ता है। आप जानते हैं, ऐसे आत्मीय और उत्तेजक स्पर्श से मेरी संवेदना उफनने लगती है। इक्कीसवीं सदी का संस्कृति-रूप आपको मेरी अपेक्षा अधिक साफ दिखाई पड़ रहा है। यह झूठ नहीं है कि कवि होने के नाते आपकी दृष्टि विशेष प्रकाश से सम्पन्न है। और तब भी आप मेरी अपेक्षा अधिक उदास हैं, सांस्कृतिक संकट की मनोरचना करके। लगता है, मेरी छुतही बीमारी आप तक संक्रमित हो गयी है। आबोहवा की गुमसुम को अपनी वाणी से आलोक-मुखर करने वाली आपकी प्रसन्न आस्था थकने क्यों लगी? कहीं बुढ़ौती ने तो नहीं टोना कर दिया आपको?

स्वस्थ मन से सोचता हूँ तो लगता है कि लगभग एक ही मनोदशा है संस्कृति-सचेत लोगों की। आप ही की तरह अनास्था-आशंका उन तमाम लोगों के मन में है जो मूल्यों के पक्षधर हैं और जिनका विश्वास है कि धर्म, अध्यात्म, विज्ञान, साहित्य और कला-संस्कृति का एकान्त लक्ष्य है मनुष्य की महिमा को उन्नत करना। आज नाना विधाओं पंथाओं, कोणों और मंचों से उस मानुष-सत्य को ही कुचलने की कोशिश चल रही है। आपकी चिन्ता नितान्त स्वाभाविक है। मेरे जैसे समानधर्मा को छेड़ना भी आपका अपराध नहीं, लाचारी है। चिन्ता और निराशा का आधार दिनोंदिन पुष्ट हो रहा है। और इक्कीसवीं शताब्दी के स्वागत के लिये हम गाजे-बाजे के साथ तैयार हो रहे हैं। अपने मन की कमजोरी कहूँ माहेश्वरीजी आपसे, नयी सदी के स्वागत का उत्साह उल्लास मुझे गलत नहीं लगता, एक आलोक सम्भावना मुझे दीख रही है, यद्यपि युगप्रवाह को अपनी सीमित मति से मैं भी कुछ कुछ समझ रहा हूँ। तथापि मुझे अच्छी सम्भावना का स्वप्न देखना अच्छा लगता है। स्वामी विवेकानन्द की बात अच्छी लगती है—"कठोर तथ्यों में रहकर मरने की अपेक्षा कभी कभी स्वप्न देखना भी अच्छा है। महान सत्य, ये यदि स्वप्न हों तो भी अच्छे हैं—निकृष्ट तथ्यों की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं। अतएव आओ, एक स्वप्न देखें।" मुझसे बढ़कर आप स्वप्नविलासी हैं। मेरी आस्था को, लगता है, आप जाँचने को इच्छुक हैं। सुनिये बताता हूँ अपनी बात।

साफ दिखाई पड़ रहा है कि विज्ञान के जोम में मदमत्त मनुष्य आज न जाने क्या क्या कर डालने को व्याकुल है। यह ठीक है कि बीसवीं शताब्दी में विज्ञान की असाधारण उन्नति ज्ञान की विशेष उपलब्धि के रूप में स्वीकार की जाती है। साथ ही चिन्तकों की दुनिया में यह बात भी अशुभ तथ्य के रूप

में स्वीकार की गयी है कि विज्ञान की विकास समृद्धि के साथ मनुष्य मानवीय संवेदना की दृष्टि से बहुत दरिद्र होता जा रहा है। इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है विश्वयुद्ध और उन युद्धों में विज्ञान से अर्जित शक्ति की निर्लज्ज हिंसा लीला। मानवीय संवेदना पर वैसा निर्मम प्रहार सांस्कृतिक इतिहास ने कदाचित उसके पहले अनुभव नहीं किया था। और वैज्ञानिक शक्ति की बंकिम मुद्रा ने विश्वयुद्ध के द्वारा जिस अनास्था आतंक की सृष्टि की वह मनुष्य के मानस में ऐसा पैठ गया है कि अहिंसा के ऊँचे आश्वासन-बोध भी मन के गह्वर से अनास्था अभिशाप को निकालने में विफल सिद्ध हो रहे हैं। बड़ी क्षिप्र गति से धावन करने वाली विज्ञान की विकास यात्रा संस्कृति सचेत मनुष्य की संवेदना को धक्का मारती रहती है! उसी अशुभ आबोहवा ने आपको उदास बनाया है। विज्ञान की शक्तिमत्ता ने सामान्य मनुष्य को अदृश्य परा-सत्ता की ओर से विमुख कर वस्तुवादी बना दिया है। परिणामतः जड़ वस्तुओं का मूल्य बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में भावलोक सिकुड़ता जा रहा है। तथापि अभी हंसना रोना मनुष्य भूल नहीं गया है। उसके हँसने रोने का जरूर छोटा हो गया है जैसे विज्ञान की महिमा से दुनिया छोटी हो गयी है। मानता हूँ, यह संवेदना संकोच की राह है, जो आदमी को पूरी तरह अकेला बनाती है और संत्रास के सैलाब में हाथ पैर पटकते डूब मरने को मजबूर करती है। आज की सभ्यता इसी राह से चल रही है और दुर्भाग्यवश यह भ्रम सघन होता जा रहा है कि यह विकास की राह है। सभ्यता के इस दौर पर टिप्पणी करते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था, "यदि सभ्यता के प्रसार के साथ मानवीय चिन्मय मूल्यों का अधिकाधिक सामाजिकी-करण होता है, तो समझना चाहिए कि सभ्यता का विकास सही रास्ते हो रहा है। लेकिन यदि चिन्मय मानवीय मूल्य अधिकाधिक संकुचित क्षेत्र में ही सिमटने लगें, ईमानदारी और सचाई कम्पार्टमेंटल होती चली जाये और जड़ वस्तुओं का महत्व ही समाज में प्रतिष्ठित होता जाये, तो समझना चाहिए कि सभ्यता गलत रास्ते पर जा रही है।" दुनिया के कुछ मनीषी चिन्तकों ने बार-बार चिन्ता प्रकट की है कि आज की सभ्यता ने गलत राह पकड़ ली है जो मानवीय मूल्यों का निर्मम तरीके से संहार करने पर तुली हुई है। मूल्यों की भयंकर ढाही को देखते, यह चिन्ता स्वाभाविक है कि इक्कीसवीं सदी की अगुवानी करने वाला मनुष्य क्या मूल्यों से पूर्णतः रिक्त होगा? विश्वयुद्ध की विनाश-लीला से कम भयावह यह नहीं है कि मनुष्य का मूल्य-बोध मर जाय! मूल्यबोध गँवाकर जीने का मूल्य क्या है?

मगर आज के विद्या-व्यापारी अपने-अपने समर्थ माध्यमोंसे उसी आबोहवा की रचना कर रहे हैं जो मूल्य-बोध को कुंठित कर आदमी को दिशाहारा बनाती है। भारत का विद्या-जगत् वह स्वकीय सत्ता एक अंश तक गंवा चुका है जो पराधीनताकाल में भी अक्षत थी और जिसके बल पर देश राजनीतिक दासता से मुक्त हुआ। बीसवीं शताब्दी की राजनीति के भारतीय नायक महात्मा गाँधी को उस यातना का सही अन्दाज था जो भौतिक प्रलोभनों के पीछे पागल की तरह धावन करनेवाले लोगों को झेलनी पड़ती है और संत्रास से कभी मुक्ति नहीं मिलती। यूरोप की यांत्रिक शक्तिमत्ता का उद्दाम नृत्य और भौतिक वैभव की स्पर्द्धा के भयावह दुष्परिणाम को वे सही कोण से देख-समझ रहे थे। सहज शुभचिन्ता से प्रेरित होकर यांत्रिकता की दासता स्वीकार करनेवाले तथा भौतिक चाकचिक्य की ओर प्रलुब्ध मनुष्यों को गाँधीजी अपने सौम्य अन्दाज में सचेत करते रहे, अहिंसा और अध्यात्म की कीमत समझाते रहे। गाँधीजी के जीवन-दर्शन और व्यावहारिक निर्देशों को हमने उसी दिन ताक पर रख दिया जिस दिन शासन तंत्र के हम संचालक बने। जातीय संदर्भ में यह एक अविस्मरणीय दुर्भाग्य था कि अपनी देश माता की उपासना का प्रमाण पत्र बनवा कर उससे भोग उपकरण जुटाने लगे। हमारी अनियंत्रित भोग-स्पृहा ने सारे सामाजिक मूल्यों को तहस-नहस करना शुरू किया। सामाजिक जोवन के प्रत्येक स्तर को अनुशासनहीनता ने अभिशप्त कर दिया। राजनीतिक आबोहवा की धवलता लुप्त हो गयी है। मध्यकाल के अंधे युग में संतों-फकीरों और कवियों ने अपनी साधना से मृत्युमुखी मूल्यों की रक्षा की थी। आजादी के बाद के अधिकांश विद्या-साधक अपने महत् दायित्व की ओर से उदासीन हो गये और अपनी विद्या-शक्ति को केवल जीविका-निर्वाह अथवा भौतिक भोग-उपकरण जुटाने में नियोजित कर दिया। उदीयमान प्रातिभ शक्ति को सही राह और दिशा दिखाने का दायित्व ज्येष्ठ पीढ़ी ने स्वीकार नहीं किया। परिणामतः युवा ऊर्जा इतनी उच्छृंखल हो गयी कि न्यूनतम अनुशासन को भी नकारते दिशाहारा बनती चली गयी। आक्रोश, अस्वीकार और संघर्ष युवा-प्रकृति के सजातीय लक्षण हैं निःसंदेह, किन्तु हताशा-निराशा पराजय का भाव और निषेध का राग सम्भावना-शून्यता के लक्षण हैं। आप अपनी सहज उदारता से यह स्वीकार करेंगे कि साहित्य और कला की विभिन्न विधाओं में ये लक्षण इतने मुखर हुए कि संस्कारी मन में कला के प्रति वितृष्णा का भाव जागने लगा। विचारहीनता की सनक राजनीति में ही रहती तो एक हद तक गनीमत थी, संस्कृति की अनेकमुखी शक्ति से उसका

कायदे से मुकाबला किया जा सकता था जैसा सोलहवीं शताब्दी के भारतीय भक्त कवियों ने और उन्नीसवीं शताब्दी के मनीषी पत्रकारों और राजनेताओं ने किया था, किन्तु मूल्यहीनता का अंधड़ जब संस्कृति के सारे आयाम को अपनी गिरफ्त में ले ले तब मूल्यों की पहरेदारी जोखिम भरी जिम्मेदारी हो जाती है। और बड़ा कठिन कर्म होता है इस दायित्व को पूरा करना। जागरूक और साहित्य कला के मर्मज्ञ साम्प्रतिक स्थिति की नब्ज़ पहिचान रहे हैं कि नवता के आग्रह और प्रयोग के नाम पर साहित्य-कला के क्षेत्र में जिस अराजक आबोहवा की सृष्टि की गयी है उसमें अप्रतिभ और दायित्वहीन लोगों को खुलकर खेलने की अनायास सुविधा मिल गयी है। परिणामतः कला की न्यूनतम शर्तों की उपेक्षा की जाने लगी है और कला-मूल्य बड़ी तेजी से कुंठित होते जा रहे हैं। तारसप्तक के कवि श्री नेमिचन्द्र जैन ने साहित्य के बदलते परिप्रेक्ष्य-प्रतिमान की विवेचना करते कुछेक वर्ष पूर्व कहा था, "चलते-चलते आज हम ऐसी काव्य-प्रवृत्ति के द्वार पर आ खड़े हुए हैं जो नई ही नहीं, अटपटी भी लगती है, यहाँ तक कि बहुत बार दुर्बोध तथा निरर्थक भी"। नयी कविता और कला के पुरस्कर्ता तथा विचारक डा० जगदीश गुप्त ने अराजक प्रवृत्ति पर टिप्पणी की थी, "किसी काव्य-कृति का कविता होने के साथ "नयी" होना अभीष्ट है। वह 'नयी' हो और कविता न हो, यह स्थिति साहित्य में कभी स्वीकार्य नहीं हो सकती।" इस टीका-टिप्पणी के बावजूद देखते ही देखते वह दिन आ गया जब "अव्यवस्थित और असंयोजित कथन" को कविता कहा जाने लगा और कवि कर्म जैसा महत् कार्य अति सरल हो गया। आप कविता के शिल्प-विधान के पक्षाग्रही हैं।

पूरी काव्य परम्परा को अकविता आन्दोलन ने अपने औद्धत्य से जो धक्का दिया उससे आपके रचनाकार को और विवेक को आघात लगा होगा। डा० जगदीश गुप्त को कहना पड़ा, "नयी कविता ऐसे स्वातंत्र्य पर विश्वास नहीं करती जो दायित्वहीन है।" कथा साहित्य अनेक राहों-घाटों से होते पत्र-कारिता की अंध घाटी में भटक गयी। खास लोगों ने आम का हल्ला टेरते आम आदमी की सामान्य पहिचान को मिटाने और उसे वर्गों, फ़िरकों, सम्प्र-दायों में बाँटने, उसकी अपराध-वृत्तिको उत्तेजित करने और उसकी मूल समस्या को नजर अन्दाज करने का असाहित्यिक कार्य साहित्य के माध्यम से किया जो राजनीतिकों के अपकर्म से मिलता जुलता, किन्तु उससे गुरुतर अपराध था।

हमलोगों ने बीसियों बार बातचीत में चिन्ता प्रकट की है कि पीली पत्रकारिता की रंगीन मुद्रा ने विकृति को अधिक प्रोत्साहन दिया है, व्यावसायिकता की चटक भंगिमा में कला-संस्कृति के मूल्यों पर धृष्ट शैली में आक्रमण किया है। जिस प्रकार राजनीतिकों की आपसी कहा-सुनी से उनके चारित्रिक कलुष का पर्दाफाश हो रहा है, लगभग उसी अन्दाज में पत्रकार भी अपने समानधर्मा पत्रकारों पर आरोप अभियोग लगा रहे हैं और इस आरोप—प्रत्यारोप से उनकी व्यावसायिक मनोवृत्ति का घिनौना रूप खुल रहा है। पत्र-पत्रिकाओं की आज बाढ़ आ गयी है। अधिकांश अपराधोपजीवी हैं। ये पत्रिकायें समाज को अपराध की जानकारी भी दे रही हैं और अपराध-सुमुख भी बना रही हैं; अपराध की कला सिखा रही हैं। कुरुचि और विलास-विकृति के लिये पोषण परोसना इनका मुख्य कार्य है। इस प्रकार अपनी पत्रिका के लिये बड़ा विक्रय-क्षेत्र तैयार करना तथा अपने विलास-वैभव को रोजरोज समृद्ध करना इनका मुख्य लक्ष्य है। "प्रताप" की अपनी प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी (९ नवम्बर १९१३ ई०) में गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने आदर्श-उद्देश्य की विज्ञप्ति देते लिखा था, "समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत जरूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं।······किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी। साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से प्रताप सदा अलग रहने की कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन पोषण, रक्षण या विरोध के लिये नहीं हुआ है, किन्तु उसका मत स्वातंत्र्य विचार और उसका धर्म सत्य होगा।······मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बँधी है। इसीलिये सत्य को दबाना हम महापाप समझेंगे और उसके प्रचार और प्रकाश को महापुण्य।" मगर आज का पत्रकार ग्लानि की बात को भी बड़े गर्व के साथ कहता है कि हम पचास प्रतिशत सत्य की रक्षा करते हैं, राजनीतिकों का सत्य से कोई सरोकार ही नहीं है। यह बात आज के एक नामवर उर्दू पत्रकार ने एक विचार-गोष्ठी में गर्वोन्नत मुद्रा में कही थी। सत्य का प्रतिशत निकालना सचमुच आज की व्यावसायिक कला-सिद्धि है! दूसरे हिन्दी पत्रकार ने पत्रकारिता के बुनियादी मूल्यों को ही खारिज करते कहा कि हम आधुनिक समाज में काम कर रहे हैं, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू राव विष्णु पराड़कर और गणेशशंकर विद्यार्थी हमारे लिये अप्रासंगिक हैं। अर्थात् आधुनिक पत्रकारिता सत्य-विवर्जित और लोक-

हित की चिन्ता-चेतना से पूर्णतः विछिन्न है। और इसी आधुनिकता पर आज के पत्रकारों को गर्व है! वर्तमान स्थिति का अन्दाज बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे मनीषी पत्रकार को था। युग-प्रवाह की नब्ज पकड़कर उन्होने भविष्य वाणी की थी, "पत्र निकाल कर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंघटित कम्पनियों के लिये ही सम्भव होगा। पत्र सर्वांग सुन्दर होगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी। और मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी। यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देश-भक्त, अथवा मानवता के उपासक महाप्राण सम्पादकों की नीति न होगी—इन गुणों से सम्पन्न लेखक विकृत मस्तिष्क समझे जायेंगे, सम्पादक की कुर्सी तक उनकी पहुँच भी न होगी। वेतनभोगी सम्पादक मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह उन्हें न होगी।" आज की यही यथार्थ स्थिति है। पत्रकारिता के इस दुर्भाग्य की आवोहवा बहुत पहले बनने लग गयी थी जिस पर बड़ी वेदना के साथ "प्रताप" संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी ने टिप्पणी की थी, "जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना काम बना रखा है उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का अवसर देते हैं कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिये, केवल मक्खन रोटी के लिए दिन-भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार पत्रों और पत्रकारों के लिये यहाँ मार्ग बनता जा रहा है।......यहाँ भी अब बहुत से समाचार पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिये नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं।......इस देश में भी समाचार पत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं, और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन की अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है किन्तु लक्षण वैसे ही हैं......व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिये आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायेगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना।" मैं आपकी पीड़ा समझता हूँ, अंधकार आज सघन हुआ है। अर्थ-लिप्सा से चालित साम्प्रतिक पत्रकारिता आदर्शच्युत होकर एक खींची हुई लकीर पर मशीन की तरह चल रही है। वाणी-विक्रय का बाजार इतना गरम है कि सत्य-रक्षा

और अपने महत् दायित्व की विद्या-साधकों को चिन्ता ही नहीं है। अर्थ शक्ति की अवमानना-उपेक्षा एक बात है और अर्थ से अनर्थ करना सर्वथा भिन्न स्थिति है। बड़े आदर्श को ठीक से रूपायित करने के लिये स्वामी विवेकानन्द जैसे वैरागी को धनार्जन की चिन्ता में भटकना पड़ा था। बड़े मानवीय लक्ष्य की पूर्ति के लिये धन शक्ति का उपयोग उसकी विधायक भूमिका है, किन्तु संस्कृत आचार-विधि की उपेक्षा कर येन-केन प्रकारेण धनार्जन के लिये व्याकुल रहना और अपनी अमर्यादित भोग-भूख को तृप्त करने के लिये उसका यथेच्छ उपयोग करना मानवीय विवेक की अवमानना है। दुर्भाग्यवश आज विवेक के स्वामी भी अर्थ के दास बनते जा रहे हैं। जिस अंधकार की ओर गणेशशंकर विद्यार्थी ने संकेत किया था, वह काफी सघन हो चला है। इस अंधकार के प्रति वर्षों पहले विश्वविख्यात भारतीय सितार-शिल्पी रविशंकर ने चिन्ता प्रकट की थी, "हम भारतीय लोग एक सांस्कृतिक शून्य में जी रहे हैं। और वह शून्य अपने अन्दर के सूनेपन से घबराकर इधर-उधर की तमाम अल्लमगल्लम चीजों से अपने को भर लेना चाहता है। इसी से कुरुचि का भी विकास होता है और आपस में एक दूसरे को न समझने के दुराग्रह का भी।" हमारी कुरुचि और दुराग्रह में दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। साहित्य, कला की विभिन्न विधायें, राजनीति, धर्म, नगर-गाँव सर्वत्र सब स्तर पर कुरुचि और दुराग्रह का प्राधान्य दिखाई पड़ रहा है और इनके दबाव से जीवन का सहज सौन्दर्य मर रहा है, सारे मूल्य टूट-बिखर रहे हैं। इस सांस्कृतिक ढाही का अन्दाज विनोबा भावे को था, इसलिये उनकी संस्कृति-सचेत प्रज्ञा ने उद्धार की राह सुझायी थी, "अनेक साहित्यिक मिलकर कोई एक आध्यात्मिक संशोधन करें। ऐसा हो सके तो मैं मानता हूँ कि वह आगामी युग के लिये बहुत जरूरी है, बहुत बड़ी बात होगी।" विनोबा साहित्यिकों की प्रातिभ शक्ति और उनकी धर्म-च्युति से भली प्रकार परिचित थे। मूल्यों की रक्षा विद्या-लोक की साधना ही कर सकती है, यह विनोबा भावे समझते थे, इसीलिये उनकी धारणा थी कि "साहित्यिकों के नाम से जो लोग आज दुनिया के सामने आये हैं वे अपनी वाणी को बेचना बन्द कर देंगे तो दुनिया का रूप बदल जायेगा···अपनी वाणी बेचकर साहित्यिकों ने दुनिया को खतरे में डाल रखा है।" विनोबा इसीलिये 'आध्यात्मिक संशोधन' का आग्रह करते थे। मगर सभ्यता की पूरी आबोहवा ही व्यावसायिकता की गिरफ्त में आ गयी जान पड़ती है। लगता है जैसे आज की सभ्यता के चरणों में भोग और निषेध की आँधी बाँध दी गयी है जिससे चोट खाकर सारे मूल्य

अदृश्य होते जा रहे हैं। लोक-संस्कार के जितने माध्यम विज्ञान द्वारा उपलब्ध हुए हैं उन सबकी भूमिका मानव-द्रोह की भूमिका बनती जा रही है। पत्रकारिता, रेडिओ, दूरदर्शन और सिनेमा की लोक-रुचि के उन्नयन और संस्कार-विकास में विधायक भूमिका हो सकती है। इसी महत् उद्देश्य से इन सशक्त माध्यमों को मनुष्य की मेधा ने खड़ा किया था। निःसन्देह आम आदमी की अभिज्ञता-वृद्धि में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। किन्तु इन माध्यमों से सामान्य आदमी का समीपी सम्बंध हो जाने से उसके सुरुचि-संस्कार को, उसकी मूल्य-संपदा को धक्का लगा है। विशेषतः पत्रकारिता और सिनेमा ने मनुष्य के भीतर दबे अमानुष तत्व को उत्तेजना दी है, अपराध-बीज के लिये अनुकूल आबोहवा की रचना की है। अपराधजीवी लोगों की बाढ़ की उद्दाम लहरें पूरे मानव-समाज को लील न जायँ, यह आशंका संस्कारी मन में उठने लगी है। आपके संवेदन-प्रतिम अनेक हैं जिन्हें लगता है, व्यवसायवाद की मोहक शक्तिमत्ता के सामने संस्कृति ने घुटना टेक दिया है। हम इसी सांस्कृतिक शून्य में खड़े होकर सभ्यता की तीसरी लहर (कम्प्यूटर संस्कृति) से अलंकृत इक्कीसवीं शताब्दी की अगुवानी की तैयारी कर रहे हैं। यह मूल्यों की ढाही के स्वागत की भी तैयारी हो सकती है और मानवीय चेतना के नये गवाक्ष-उद्घाटन की कृती भूमिका भी। मगर माहेश्वरी जी, भारत, के सन्दर्भ में मेरा विश्वास है, सभ्यता की तीसरी लहर के लिये यह उपयुक्त लीला-स्थली नहीं है। भारतीय संस्कृति की पाताल-प्रविष्ट जड़ों को हिलाना जड़ शक्ति के बूते का काम नहीं है। सामयिक अंधड़ का औद्धत्य हमारी रोशनी को निछोह धक्का मारकर हमें हतप्रभ कर सकता है, किन्तु आप जानते हैं और इतिहास साक्षी है कि भारत को ऐसे धक्के पहले अनेक बार लग चुके हैं और धूल झाड़कर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिये वह झट खड़ा होता रहा है। यह ठीक है कि जड़ वस्तुओं का भाव पश्चिम की देखा-देखी यहाँ भी ऊँचा हुआ है किन्तु सौन्दर्य का सम्मान करने की कला भारत में अभी मरी नहीं है। कृषि संस्कृति की गोद में यह देश बूढ़ा हुआ है। विजातीय लोक के प्रदूषण-आक्रमण से घायल होकर भी इसने अपनी स्वकीय सत्ता की रक्षा की है। व्यवसायवाद के अंधड़ ने भारतीय जीवन-छंद को जरूर धक्का मारा है, लेकिन मूल्य के पक्षधर अभी यहाँ बड़ी संख्या में हैं। धर्म के नाम पर अधार्मिक कार्य करनेवालों से कम संख्या उनकी नहीं है जो धर्म का मर्म सही रूप में समझते हैं। अध्यात्म के साइनबोर्ड लटकाकर युग-प्रवाह के अनुकूल भोगवाद को प्रोत्साहन देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मोहक

केन्द्र आजादी के वाद बहुत क्रियाशील हुए हैं, मगर उपनिषद्, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण और गाँधी की धरती पर उनकी दुकानदारी जम नहीं रही है, इसलिये भारत के बाहर वे जहाँ-तहाँ भटक रहे हैं अनुकूल बाजार की तलाश में। माता टेरेसा और वावा आमटे की अध्यात्म-साधना ही भारत की अध्यात्म साधना-परम्परा के अनुरूप है। समष्टि का सम्मान आज उसे ही मिल रहा है। कुम्भ और गंगासागर के मेले की भीड़ के सामान्य मनुष्य भी यह महसूस कर रहे हैं वड़ी पीड़ा के साथ कि पंजाब में आज धर्म के नाम पर जो हिंसा लीला चल रही है वह नानक देव की महत् धर्म-साधना के सर्वथा विपरीत है। राजनीति की प्रदूषित बयार के इशारे पर नासमझ लोगों की भीड़ आग से खेलते मानवीय संवेदना का निर्मम तिरस्कार कर रही है। और ऊपर से ही सही, अब राजनीति के सौदागर भी राजनीतिक अस्वच्छता के खिलाफ आवाज टेरने लगे हैं, राजनीतिक धवलता का आग्रह करने लगे हैं। आप जानते हैं, सत्यजित राय और रविशंकर जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कलासाधक भारतीय कला को प्रदूषण से मुक्त कर कला के सही धरातल को अपनी साधना से समृद्ध करने के लिये क्रियाशील हैं। मूल्यों के मनीषी प्रहरी प्रत्येक भारतीय भाषा-साहित्य में आज भी साधनारत हैं। सत्य की रक्षा में शहीद होने वाले गणेश शंकर विद्यार्थी, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गाँधी की आहुति का मूल्य समझने वाले लोग अभी देश में जीवित हैं। सीमान्त गाँधी जैसे मूल्यों के जागरूक पहरुओं के प्रति सम्मान-भावना अक्षत है। और राजनीति की सनक के मोह में पड़कर अपनी कृती ऊर्जा को तहस-नहस करने वाली देश की तरुणाई अब स्वत्व-सचेत और मूल्य सुमुख हो रही है। यह वड़ी सम्भावना का शुभ संकेत है। संकेत इस सम्भावना का कि इक्कीसवीं शताब्दी की अनेकमुखी समृद्ध ऊर्जा को भारत विधायक दिशा में नियोजित करेगा। विनोवा जिस आध्यात्मिक संशोधन का आग्रह कर रहे थे। उसी अभीप्सा को मूर्त करने इक्कीसवीं शताब्दी भारत के आँगन में उतर रही है। मानव मूल्यों की रक्षा की यही एकमात्र राह है जो भारत की धरती से शुरू होती है।

मगर इक्कीसवीं शताब्दी की सम्भावना जितनी वड़ी है उतनी ही जटिल चुनौतियों का मुकावला भी करना पड़ेगा। मूल्यों के पहरुओं-पुरस्कर्ताओं को— विशेषतः साहित्य और कला के साधकों को। दायित्व सचेत न रहने पर इक्कीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक शक्तिमत्ता कला की धुरी को विक्षत कर सकती है। तकनीकी समृद्धि के आतंक से मानवीय संवेदना निष्प्रतिभ हो

सकती है। हमारी किंचित अनवधानता का घातक परिणाम होगा कि सारे मानव मूल्यों को मशीन कुचल देगी और पुच्छ विषाण से रहित होते हूए भी हम अमानुष बन जायेंगे। भारतीय ऋषियों ने बार-बार सचेत किया था कि सुखार्थी संतोष का मूल्य समझे और संयम की राह पकड़े, "संतोषं हृदि संस्थाय सुखार्थी संयतो भवेत"। इस सजातीय निर्देश की उपेक्षा कर पाश्चात्य जीवन शैली के चाकचिक्य की ओर आकृष्ट होकर असंयत सुख-स्पृहा के वेग से हम जहाँ तहाँ दौड़ते रहे। टैगोर की आस्था को स्मरण कीजिए, "हमारे जीवन की सभी दिशाओं में इसी तरह का एक असंगत जोड़-तोड़ का व्यापार चल रहा है। यूरोपीय सभ्यता के प्रताप और ऐश्वर्य के आयोजन ने हमारी दृष्टि को मुग्ध कर रखा है, उसके असंगत क्षीण अनु-करण पर हम अपने आडम्बर आस्फालन की प्रवृत्ति को खूब जोर से दौड़ा रहे हैं, हमारी ड्योढ़ी पर उसका जय-डंका बहुत ही ज्यादा शोर मचा रहा है। मगर जो हमारे अन्तःपुर का संवाद रखते हैं वे जानते हैं कि वहाँ मंगल शंख इस वाह्याडम्बर की धमक से नीरव नहीं हो गया है। किराये पर आया हुआ किले का बाजा किले में लौट जायेगा तब भी हमारा अपने घर का शंख आकाश में उत्सव की मंगल ध्वनि घोषित करता रहेगा।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह आस्था आज भी प्रासंगिक है, इक्कीसवीं शताब्दी में इसकी मूल्यवत्ता महत्ता और बढ़ेगी।

माहेश्वरीजी, जब आपको तरन्नुम में गाते सुनता हूँ, "तुम आये आँगन भर किलकारी लाये।",

लगता है इक्कीसवीं सदी की बहुआयामी समृद्धि के स्वागत में आपकी आस्था ठहाका मार रही है। आपकी विषण्ण मुद्रा उन्हें उदास बनायेगी जो आपके कौतुकी स्वभाव से परिचित नहीं है। मेरी भावना को कुछ क्षण के लिए आप भरमा सकते हैं, यह मुद्रा सिद्धि आप में है। आपकी खबर थोड़ी बहुत रखता हूँ। "तासों करहु चातुरी जो नहिं जाने मरम तुम्हार।" मैं थोड़ा जानता हूँ। इसलिए आपकी आस्था मुझे कविकुल की आस्था लगती है जो रवीन्द्रनाथ के शब्द शब्द में व्यंजित है और जो उज्ज्वल भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है। मनुष्य के भरोसा की रक्षा करने वाली वाणी रचना का कृती कार्य जब तक जीवित रहेगा विकट चुनौतियों से पंजा लड़ाने का बल मनुष्य अपने भीतर से पाता रहेगा, उसकी महिमा को कुंठित करने के सारे कुटिल अभियान विफल होते रहेंगे। एवमस्तु।

# मनमोहन ठाकौर

## अवाजें—सुभै सवेरे की

अवाजें, पंडिज्जो, अवाजें। कैसा भरा-पूरा रैवै था जे हमारा मोहल्ला अवाजों से विन दिनों? कोई एक अवाज होय तो गिनाऊं वाबू साव। तरै-तरै की अवाजें गूँजा करे थीं इस हमारी वस्ती में। वो जव सारी वस्ती घैरी नींद में सोती रैवै थी घुप्प अंधेरे में, सन्नाटा छाया रैवै था चारों तरफ, तो विस सन्नाटे की ऐसी-तैसी कर दैमें थे हमारे भोला चाचा। अलस्सुभै विधर चार वजे नई के साव भोला चाचा की अवाज छा जावै थी समूचे पाड़े पै—मां मेरा रंग दे वसंती चोला। आय हाय, क्या गला पाया था भोला चाचा ने? भोला चाचा की याद है कै नई, वावूजी? अरे वोई पान वाले भोला चाचा। म्हंई राजामंडी के चौराहे पै थी न विनकी दुकान। वोई छुट्टो पंसारी के सामने वाली। अव जे मती ना कै देना कै आप भोला चाचा को भूल गये हो। उन्हें कौन साला भूल सकै है? काँटै से काँटा मिलालो साव। उधर चार का गजर वजा नई कै इधर भोला चाचा की अवाज गूंज उठै थी……मां मेरा रंग दे वसंती चोला। इसी रंग में वीर सिवा नै मां का वंधन खोला। वस साव गाते चलते रैवें थे भोला चाचा। रोज का नेम था विनौं का। जाड़ा होय चाय गर्मी चाय वरसात। विधर चार वजे नई के उन्हें घर से निकल पड़ना ठैरा। जमनाजी नहाने। प्हौंच गये कन्हैया विल्डिग और कर लीना इक्का के चल भई जमनाजी। म्हां पै न्हाये-धोये, चंदन के तिलक-छापे लगाये और लौट आये छै वजते न वजते दुकान खोलने। हमने तो वाऊजी, हर हमेसा विनौंका जेई रवैया देखा है साव। छोटे से वड़े हो गये इसी वल्का वस्ती में। मजाल है जो नैक सा भी फरक पड़ा होय कभी।

तो साव मैं कै रिया था वात अवाजों की। उधर भोला चाचा गये कै विड़चो चिड़ियां जग उठैं थीं। वाटइ देखती रैमैं थीं सुसरी के जैसे भोला चाचा की ड्यूटी होय विनें जगाने की। सुरू में एक चिड़िया वोलेगी—चूं चप-चूं चप। रात का सन्नाटा तो समझो साव जादू होवै है। एक वार

टूटा सो टूटा। फिर लाख कोसिस कर लो, वापिस थोड़ेइ आ सके है। बस साब, वो पैली चिड़िया ने जैसेइ चूँ-चूँ करी कै पड़ गयी जगार सारी चिड़ियों में। अब संभालो हिम्मत होय तो।

विघर चिड़ियों की चूँ चूँ चल रई होवे थी और साब, घर-घर में चलनी सुरू हो जामें थीं चक्कियाँ। मैं सच्ची कै रियाऊँ पंडज्जी। आज तो सुसरी चक्की के दरसन भी दुर्लभ हो गए एँ। हमाए जमाने में भैंचो वो घरई क्या जिसमें चक्की नईं पीसी जाय। जभी तो साब हट्टे-कट्टे हुआ करैंथें उस जमाने के लोग। हाथ के पिसे नाज की बातई और होवैऐ साब। जो पीसै वो भी तंदुरुस्त और जो साला खाय बो भी अरांता फिरै। मसीन का आटा विड़चो क्या खा कै बराबरी करेगा विसकी? इसकी तो जो एक रोटी भी ज्यादा खा लो तो करते फिरो हुच्च-हुच्च। कोई केवैगा कै मुझे गैस हो गयी और कोई सुसरा दिन में दस बार भागेगा लोटा उठा कै।

और जे बैयर बानियाँ? आज तो जिसे देखो सूखी तोरई सी लगे हैं। मैं कऊँ के भैना जरा तो अपनी सूरत सकल का भी ध्यान रक्खो। पर साब वैसे तो दिन में सौ दफे जाके बैठ जामैंगी मरे सीसे के सामने और दे क्रीम, दे पाउडर चुपड़ लेमैंगी अपने थोबड़े पै परतों पै परतें। पर साब विनके हाथ-पाम, डील-डौल? वोई मसल है कै इधर से फूंक लगा दीनी नैक जोर से तो बहती चली आमैंगी इस तरफ। जरा जो कईं काम करना पड़ जाय तो, पंडज्जी, सुसरियों की फूंकई निकल जाय।

राम राम। साला कैसा जमाना आगियाऐ बाबूजी? कुछ भैंचो समझ मेंई नई आवैऐ हमें तो। एक हमारी दादी थीं साब के दस पंद्रै सेर नाज तो बाएँ हाथ से पीस कै घर देमें थीं। जोरई नई आवैथा। और फिर सारे घर की झाड़ू-बुहारी? इकल्ले हाथ से करे थीं। कोई नौकर-फौकर नई रक्खा जिन्दगी भर। उजेला होने से घंटे भर पैलेइ सारा घर विड़चो ऐसे चमका दैमे थी साब के चेहरा देखलो अपना फरस में। पिच्यासी की होके गयीं। पर साब मरने के दो दिन पैले तक जेई रवैया था उन्होंका।

तो बाऊजी, नाज पिसै था घर-घर में। चक्की की घरड़ घरड़ से मोहल्ला गुलजार बना रेवै था। जैसेई चक्की से निबटे, घर झाड़ पोंछ डाला, कै सबकी सब लग जामेथीं दूध बिलोने में। आपको विस्वास नई आवैगा, पर अकीन मानियेगा पंडज्जी, दूध तो साला फैला फिरैथा उस जमाने में। गरीब से गरीब घर का लौंडा भी, कमसै कम पाव डेढ़ पाव दूध तो डालई लेवैथा पेट

नें। छै आने का सेर भर तो मौना छुट्टो बेचा करें थे अपनी दुकान पै, बूरा डला दूध। वो दूध जो पाव भर भी चला जाय पेट में तो भन्नाते फिरो साब। जे मोटी मलाई तैरे थी कुल्हड़ में। आज तो दूध है के मरा मूत, कुछ पताई नई चले है।

एक बड़ा मजे का किस्सा याद आ गया, इस दूध की बात पै। वो हमारे घर में एक बनैनी र्‌हैवे थी—रामकली। सो साब वो एक दिन संझा पड़े हमारी माँ के पास आ कै क्या कैने लगी, पता है? कैने लगी के पीतज्जी, कल तो मरा धेले का दही मंगाया। सो मरा भत्तौला आया। सो पीतज्जी हमारे घर वालों को सभी को खिलाया, फिर भी मरा भत्तौला बच रिह्या। सो पीतज्जी, मैंने अड़ौसी को खिलाया पड़ौसी को खिलाया फिर भी मरा भत्तौला बच रिह्या। सो मैंने विसै घूरै पै फैंक दीना। विसै मरे कुत्तों ने चाट चाट के, नोच नोच कै खाया। पर पीतज्जी, अकीन करना फिर भी मरा भत्तौला बच रिह्या।

पीतज्जी समझे बाबू साब? जे बनैनियाँ अपनी चचिया सासों को पीतज्जी कैया करैथीं। अब आपई बताओ बाबूजी के विसै जे गप्प सुनाने को चचिया सासई मिली थी? पर साब इसकी तह में जो मतलब छिपा है वो जेहै के जरा से पैसों में तौला भरके दूध-दही आजावै था। जभी तो साब वो पुरानी कहावत चल गयी है कै अपने देस में दूध-दही की नदियाँ बहा करें थीं।

दूध बिलोते वखत वो जो रई चलै थी न, विसकी छर्र-छर्र का अपनाई राग होवै था। वो अवाज तो आज सपना हो गयी साली। आज के छोरे-छोरियों से पूछ कै देखो पंडज्जी कै जे रई क्या होवै है तो सब के सब सुसरे म्हों ताकने लगेंगे। विनौने देखीई काँएँ वो तमाम चीजें? अब तो जे मिक्सी-फिक्सी चल गयी है न? पर बाऊजी, आपई धरम से कै दो के है इनमें वो पैले वाला मजा कै दूध, छाछ, मक्खन, जो भी खाओ-पीयो विसी में मस्तियां आजायें?

वो बाला मक्खन तो भैंचो कां जा मरा, कुछ साला पताई नई। सफेद झक्क, गोल-मटोल, नरम गुदगुदा। अब तो साब खाओ बटिया काट-काट कै। सो भी साला जानै कित्तै दिन पैले का बनाया हुआ। सच्ची कै रिह्याऊं। चाऐ वो दयालबाग डेरी का होय कै सिंगल डेरी का। कै चाये होय, वो क्या साला नाम है अच्छा सा? अमूल, अमूल डेरी का। सब साले एकई माया हैं। ज़ानै कब का पैक कीना-कराया रक्खा रैवै है दुकान पै। और बिड़चो कैमैं

है कै फ़ैस माल है। अबे ऐसी की तैसी तेरे फ़ैस माल की। फ़ैस का तो मजाई कुछ और ही होवै है। इधर दूध विलोया नई और उधर मक्खन का गोला तैयार जिस पै छिड़क दो थोड़े से पिसी मिस्री के दाने और बुरकदो नैकसी काली मिर्च। पिसी हुई। ज्हाँ गले से नीचै उतरा नई कै जी में तरावट इ तरावट। और आपकी आँख तो साली कभी खराब होइ नई सकै थी विसै खाए बाद।

आज तो देख लो साब आप खुदई अपनी आँख सै। कल्ल निकल कै आए मां के पेट से और आज पिल्ले के चढ़ गया चस्मां आखां पै। अरे भैया, जब कुछ तर माल खिलाओगे-पिलाओगे नई अपने बाल बच्चां को तौ विनै तौ चस्मुद्दीन बननाई ठैरा। चस्मुद्दीन टके के तीन, हुंः। वो हमारे-बाबा थे न साब, तेरासी को उमर मैं भी सरद पूनौं की रात को सुई में धागा पिरो दिया करैं थे।

तो साब उधर दूध विलौना खतम हुआ नई हुआ कै सिर पै डलिया धरे बस्ती से गुजरै था रसीद कसाई। रोज सबेरे कटघर पै जावै था न साब गोस्त खरीदने। जे रसीद भी सुसरा एकई कलाकार आदमी था पंडज्जी। गला था विसका ? मलाई के लड्डू जैसा। वैसा मीठा गला मैंने नई सुना साब। भोला चाचा भी विसके आगै पानी भरैं साले। पर साब जे रसीद मैंचो गाना रोज-रोज एकई गाया करैथा—बिछड़े हुए मिलेंगे फिर, किस्मत ने गर मिला दिया। और कोई आवैई नई था साले को। पर साब जो दर्द भरा रैवैथा इस गाने मैं वो तो बस एक जनाई और भर सका है मेरी जान मैं तो। वो आपनै देवदास तो देखा होयगा साब। विसमें वो सैगल ने गाया नईऐ—दुखके अब दिन बीतत नाहीं। बस साब कै तो रसीद कसाई के गले में बो बात देखी कै सैगल के। और कोई भैंचो वो बातई नई ला सका आज तलक।

रसीद कसाई बस्ती से गुजरा नई के सुरू हो जावै थीं साधू-सन्यासियों की अवाजें। कैसे-कैसे फकीर, दरवेस, साधू-महातमा आ जामें थे दुनियाँ के जानै किस कोने सै निकल-निकल कै। एक दफे तो बाऊजी तीन मुसलमान फकीर आ गये आगरे में। भाग फटी नई कै "नबीजी भेजो, पाँचसौ सत्तर रुपये, सात सौ अठन्नियाँ, बारह सौ चवन्नियाँ, तीन सौ दुअन्नियाँ, दो हजार इकन्नियाँ—उन तीनों की आवाज छा जावै थी बल्काबस्ती पै। लगैऐ के बिन्है पन्द्रै सौ रुपयों की जरूरत आन पड़ी होयगी, किसी काम के

वास्ते। विस्वास करना पंडिज्जी, नई आए होंगे तौ महीने भर से ऊपर तो आएई होंगे। लम्बे चोगे, लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ और सिर पै फकीरों वाली पगड़ो। हाथों लिये रैंमें थे जे वड़े-वड़े कटोरे। एक लैन में चला करैंथे। किसी साले से कोई फालतू वात नई। बस वोई, "नबोजी भेजो।"

कटोरे में किसी ने कुछ डाल दीनां, रुपया कै अठन्नी, कै चोअन्नी, तो साव फोरन भैंचो घटा लेमैं थे टोटल में से। सात सौ अठन्नी को जगै अब बोलने लग जामैंथे, छैसौ निन्यानवे अठन्नी। दिन-दिन कमती होती जावै थी विनोकी माँग। और फिर, बाबू साव, एक दिन हमने देखा कै तीनों के तीनों गायब। कहाँ गये, कुछ पताई नहीं चला। क्यों तो आए और भैंचो क्यों चले गये, हमने साब भौतई कोसिस करी अपनी जान में पता लगाने की, पर कुछ नई जान पाये। आज का जमाना होता तो साव मैं सरत वदने को तैयार हूँ, हम और आपई कै देते के जरूर पाकिस्तान के जासूस थे। पर तव तो पाकिस्तान साले का दूर-दूर तक न कोई अता था न पता।

जे वात वाकई में वड़ी अच्छी थी विन दिनों। जे हिन्दू-मुसलमान का इत्ता जोर नई था। वैसे तो, बाऊजी, दौनोंई वड़े कट्टड़ होमें थे अपने-अपने धरम के मामले में। छुआ छूत का भौत विचार रैवै था। पर साव, साधू-फकीरों को दौनौई एक नजर से देखें थे। जे नई के साव हम हिन्दू हैं तो जो दान-दच्छिना देनी होयगो सो हिन्दू कोई दैमेंगे और जो मुसलमान होयगा वो मुसलमान की झोली में डालेगा। अजी राम भजो, साधू-महात्मा तो साधू-महात्मा होमैंहैं। विन मैं क्या हिन्दू-मुसलमान करना? जे तो साव भगमान-भगमान में फरक करने वाली वात हो गयी साली। अव आपई घरम से कै दो पंडज्जी कै कई हनूमानजी में और भैरौंजी में कोई फरक किया जा सकै है? नई न? म्हाँ तो साव सव बिसी के बन्दे हैं। तुम राम कहो कै रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है वाली कहवत कोई वेफिजूल थोड़े ई कै गये थे अपने बुजुर्ग लोग।

और साव, इसी का जे नतीजा था के जो भी साला आके खड़ा हो गया दरवज्जे पै, विसकी झोली में, जैसी जिसकी स्रद्धा हुई, कुछ न कुछ तो गिरैई था। सस्ताई का जमाना था, जे सच्ची बात ऐ, बाऊजी, पर भैंचो आमदनी मी तौ सबकी बैसीई रैवै थी। अब यों समझो साव कै मैट्रिक पास को मिला करैं थे पन्द्रै रुपे महीने और जो आपनै बी० ए० ऐम० ए० कर लीना, और आपकी किसमत नैक अच्छी हुई तो चालीस रुपल्ली मिल जामैंगी आपको।

पर बाऊजी क्या बरक्कत रैवै थी विस जमानै में। एक कलदार रुपये में होमैं थे पूरे चौंसठ पैसे। और क्या नईं आसकै था एक पैसे में विन दिनों? तीन छिटांक चने—भाड़ के भुंजे, एक पाव भाड़ कीई भुंजी मूमफली। आठ आलू की चाट जिसमें चार पै छिड़का रैवै था दई और चार पै साली पोदीने की चटनी। फल खानै की तवीयत करै तो सच्ची कैरियाऊँ, इकन्नी के फल आप एक वखत में नईं खा सको थे। चार खीरे। सोलै पतली-पतली रेसमी ककड़ियाँ—वोई जिन्हें हमारे जमाने में कह्या जावै था, लैला की उंगलियाँ, मजून की पसलियाँ। और कईं जो आपकी तवीयत भैंचो नास्ता करनै की होय तो साव गेर लो एक इकन्नी अपनी जेव में और पाँच जाओ राजामण्डी के चौराए पै। श्यामा हलवाई की दुकान पै। वो खस्ता और करारी-करारी जलेबी-कचौड़ी के साव रीझै व्रजराज। आठ जलेबियाँ खाओ कै चार कचौड़ियाँ चवाओ। लद गये साले वौ दिनई अब तो। जाने कां जा घुसै सुसरे?

नौ का टैम होते-न-होते सुरू हो जामें थी फल-फूल वालों की अवाजें। कैसे-कैसे गुर जाने थे अपना माल वेचने के! "नोन में हिलाये, जामुन नोन के झकोरे। चिड़िया—तोतों से बचाये, देवर-भाभी सै रखाये, मीठे जामुन।" एक लै मैं, एकई साँस में इत्ता सारा वोल जामें थे स्साले। "ठंढे मीठे फालसे, सरवती फासले।" और ऐसेइ हज्जारों चीजें। जे वड़े-वड़े तरबूज, मऊ के खरवूजे, जैसे मिसरी की फाँक वाले। तरै-तरै के आम। सेब, नासपाती, नख, अमरूद, संतरे, अनार और अंगूरां की तो साव वातई छोड़ो, वो साले सहतूत, सरदे, कसेरू, आडू, लुकाट, लीच्चियाँ—क्या नईं आवै था विकनै उन दिनों? आज तो वाऊजी विनां का नाम भी नईं जानँगे लौंडे वच्चे।

अव पंडज्जी आलम रैवैथा कै नीचै सड़क पै तो अवाजें लगा रए है जे डलिया—ठेले वाले और ऊपर छज्जों में खड़ी वैयर वानियाँ कै रईएँ— "ओ आम वाले, ठैर जा भैया। कैसे दिये आम?" सौदा तै हो जाय तो छज्जे पैसेई लटका दीनी डलिया और साव खैंच लीना माल म्हंई पै खड़े-खड़े। नीचै उतर के आने की झंझट नईं। सच्ची कैरिह्याऊँ, वाऊजी, बड़े मजे रैमे थे विन दिनों।

उधर घर की छतों पै एक दूसराई खेल चला करे था, पतंगवाजी का। लौंडे-लपाडेई नईं, भैंचो दाढ़ी-मूंछ वाले भी पतंगों के दीवाने र्हैमें थे साव। पतंगें तौ आज भी उड़ा करें हैं साव। पर वो पतंगें आज रही कहां? क्या

क्या नाम होमैं थे पतंगों के भी ? छिदम्मी, जो एक पैसे की आठ आमें थीं। तुक्कल, पुछल्ला वांध कै उड़ाया जावे था। अधकटा पतंगे विनैं कैमैं थे जो दो रंग की होमैंथी, आड़ी पट्टियों वाली। एक होवे थी तोतापरी। इसकी एक तरफ एक रंग का कागज लगै था, दूसरी तरफ दूसरे रंग का। देखो तौ लगे कै तोता पंख फैला के उड़ना चारिह्या है। एक और होवै थी चकर घिन्नी जो सुसरी आकास में जा के चकरघिन्नी काटा करै थी।

और साव विनके पुंछल्ले ? आकास में उड़ैं तौ लगे के जैसे पुच्छल तारौं की वरात निकल रई होय। अव तौ वाऊजी, न वो पतंगेई रहीं न वो विनका मजाई। इस मैंगाई ने भैंचो सवके मांजे ढीले कर दीने विड़चो। नई तो साव वो जो हमारा कुइयर था न, क्या वात थी सुसरे की ? सवेरे जाकै भूत मार्का डोर की गिट्टक दे आओ और वो संजा पैलेई आपकी डोरी पै ऐसा मांजा सूंत देगा, ऐसा छै कसका मांजा सूत देगा कै जो जरा सी भी वेध्यानी करी आपने तौ खच्च देनी से उंगली कट के खूनई खून हो जायगा। पिसा कांच मिलावै था मंजे में। और भी न जाने क्या-क्या अलाय-वलाय। आपको तौ वस जे वताना पड़ेगा के कुइयर उस्ताद हम ढील के पेच लड़ामैं हैं कै खैंच के, वस। कुइयर का सुंता मंजा दिन में भैंचो तीस पतंग काटैगा कै चालीस, कुछ ठीक नई था। कुइयर तो साला मर के सुरग गया वाऊजी, पर हमारी वल्का वस्ती की तौ सानई चली गयी भैंचो।

पतंगैं उड़ैंगी, पेच लड़ाये जायंगे, तौ चिल्ल-पौं तौ मचनी ही हुई साव। पेंच भी साले ऐसे-वैसे नई। पतंग उड़ रईऐ वल्कावस्ती मैं और पेच चल रएहैं ठेठ ताजगंज पै। अजी, ऐसे क्या देखने लग गये पंडज्जी ? मैं क्या दून की हांक रिह्याऊं ? किसी से पूछ देखो। अभी तो उस जमाने के लोग मैजूद एं वस्ती मैं ! तो साव पेच चल रएएँ, हल्ला मचा हुआ है—खैंच लेवे खैंच ले, रुकै मत, दिये जा ढील प्यारे, चरखियों पै चरखियां, लटेरें खाली हुए जा रई ऐं और फिर सवके पीछे हजारों गले से एकई अवाज—वोक्काटा। आज तो साव हमतो भैंचो तरस कै रहे गयेएं विन अवाजों के लिये। लगै है के म्हैंगायी के चक्कर में जमाने ने वो अवाजेंई वेच खायीं सुसरी। नई तो साव, पतंगें तो आज भी उड़ै हैं। पैंच भी लड़ाये जामें हैं। पर वो प्यारी-प्यारी लौंडौं की किलकारियां, वो सोर-गुल, वो हो-हल्ला कां पै जा घुसा ?

पतंगवाजी तो हुआ एक सौख। एक और भी सौख होया करे था, विस जमाने में। कबूतरवाजी का। अच्छे-अच्छे घरों में पाले जामें थे कबूतर

विन दिनों। जे नई के साव कोली, चमार, नाई, तेली, काछियों काई काम होवै कबूतर पालना। सातों जात इसमें सामिल रहैमें थीं। घर की छतों पै बनाये जामें थे दरबे। गुम्मा ईटों के। भौत सोच-समझ के। छोटा-मोटा कमराई समझो साव। दरबे के अंदर रहै में थे खाने। एकेक खाने में एक-एक जोड़ा, कबूतरों का।

कबूतर भी तो, बाऊजी, तरै-तरै के हौमें हैं। लक्का, लोटन सिराजी, खरब, चितकबरा, गिरैबाज। रंग-बिरंगे। कोई मैदा जैसा सफेद तो कोई साला कोयले से भी ज्यादा काला। किसी का रंग भूरा-बदामी तो किसी पै ऐसी-ऐसी छींटैं के साव क्या किसी भैंचो रंगरेज की ताकत के वैसी छींट का कपड़ा रंग दे। जे जो ऊपरवाला है न पंडज्जी बड़ा कार-साज होवैए वो। हमने तो साव कुदरत जैसा आज तक न कोई साला रंगरेज देखा, न भैंचो कोई कुम्हार। कैसी-कैसी सूरतें गढ़ के पटक दीनी एँ बिसने और कैसे-कैसे रंग दे रक्खे हैं विन सूरतों को। मजाल है साव किसी साले की जो विससै अच्छी कारीगरी करके दिखा दे। होय कोई वैसा सूरमां तो म्हाराज विसकी टांगों के तले से निकलने को तैयार हूँ बाबूजी, हवाल, इसी दम।

पर साव, कबूतरों को पालना कोई लालाजी का खेल थोड़ेई है। भौत साज-सम्हार रखनी पड़े है विनों की। ठीक अपने बाल-बच्चों जैसी। टैम-टैम पै विनों का सारा काम करना पड़ैऐ। सुभै-सवैरेइ निकालो दरबे से। बाजरा और गुड़ मिला के दाना पैले सैई तैयार रक्खो के जैसेई वो बाहर निकल के आमैं कै विनका नास्ता हाजिर। एक तरफ पत्थर के कूंड़े में साफ सुथरा पानी रैना चइई, पीने का। वो तौ साव सीनई बड़ा गजब का होवै था। तीस-चालीस जोड़े कबूतरों के भैंचो गुटुरूगूं, गुटुरूगूं किये जा रए ऐं।

किसी साले की तबियत हो आई तो जा घुसैगा कूंडे में और लगैंगा पंख फड़फड़ाने। छींटे उड़ रएऐं और लक्का महाराजा का हो रयां ऐ इसनान। किसी का पेट भर गया तौ साला जा घुसैगा दरबे मैं और म्हां पै जो उसका चूजा होयगा न साव विसकी चोंच मैं घुसेड़ के उगल देगा सारा मलीदा। पर साव खिलायगा भैंचों अपनैई बच्चों को। भूल कै भी कभी दूसरे के खाने में नई घुसेगा। हमें तो साव सोच-सोच कै ताज्जुब होवै है आज तलक कै किसने भर दीनी इत्ती अकल इस साले कबूतर जैसे टुंइयां से जनावर मैं? आपई सोचो पंडज्जी के म्हां दरबे के खानों में भैंचो कोई नम्बर थोड़ेई लगे हाँमैंहैं के देख भई कबूतर तेरा खाने का नम्बर आठ है और तेरा नौ। कमाल ऐ बाऊजी, पूरा कमाल ऐ साला। सुमान तेरी कुदरत, कै वो कभी अपने

खानें को नईं भूले हैं। बोतौ अपनेई अंडों को सेएगा और दाना भी भरेगा तौ अपनेइ बच्चों के हलक में।

खा-पी लिया तो चल भईं, करले नैकसी वर्जिश भी। पचा ले अपना खाया-पिया। आकाश का पखेरू है तो चल मैया, घूम-घाम आ आकास में। पर साव सवेरे की टैम ज्यादा देर नईं उड़ने दिया जावै था इन्हें। इन्हों का अमल खेल जमैं था संझा की वखत। सवेरे तो दो-चार चक्कर मारे नईं के कवूतरों का मालिक म्हों मैं उँगली डाल के सीटी वजा देवे था—पी-पी, जैसे साव वो हॉकी के मैच में रैफरी सीटी बजा कै कै देवै है न कै हो गया भैया हाफ टाइम।

इस पी-पी से याद आ गयी वावूजी अपने पीपी चाचा की। वड़े घर में जनमें, पैसे टके की कोईं कमी नईं। ढेर सारी जमीन जैदाद। पर साव, लग गया सौख बचपन सेंईं कवूतरवाजी का। इसी वाड़े में रहैमें थे। वो जो ऊपर की छत दीख रईं है न साव, म्हईं पै वना रखे थे दरवे। इसी सौख के पीछे व्याईं नहीं करा जिन्दगी भर। लंडूरेइ डोले भैंचो। कैह्या करै थे के मुझे साली फुरसतईं कांहै इस सब झंझट झमेले में फँसने की? व्या कर लीना तो विसै सुसरी को संभालूँगा कै मेरे कवूतरों को? सो साव, जव तक जिन्दा रहे पी पीईं करते रहे। वस्ती वालों ने विनका नामईं पीपी धर दीना। दोस्तों के नाम पै थे आगरे भरके कवूतरवाज—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान—सभी विनके यार थे। गुदड़ीवालों में वड़ी इज्जत थी विनों की। आगरे में कवूतरों का थोक वजार गुदड़ी मेंईं है वाऊजी।

आप कुछ भी कहो, साव, हमें तो जे सौख भौत ईं अच्छा लगे है। कवूतर जैसा सीधा सादा जनावर दुनिया में मिलना मुस्किल है। जभी तो दुनियाँ भर में जव भी अमन चैन सुख शान्ती की वात होवै ऐ तो साले कवूतरईं उड़ें हैं। सभी को हमने अपनी आँखों सै कवूतर उड़ाते देखा ऐ। अव वो उड़ामें तौ तौ ठीक और पीपी चाचा उड़ामैं तो भैंचो ऐव हो गया? जे भी कोईं वात हुईं भला?

छतों से तौ जे पी पी और बोक्काटा चला करे था और नीचे सड़क पै छोटे छोटे लौंडे कै तो कटी पतंगों के पीछे दौड़ा भागी करते चिल्ल पौं मचाते फिरें थे कै सुसरे निकल भागें थे सवेरेईं सवेरे गिल्ली डंडा उठा कै। सड़क के एक किनारे पै, और नईं तो साव कभी कभी तो वीचोंवीच सड़क पै गुच्ची खोद लैमें थे और वस चल भईं हो जा सुरू। म्हईं पे चला करै था

एक और खेल गुची पाड़ा। रंग विरंगे, खवसूरत खवसूरत कंचे। और जो कंचे खरीदने की ताकत नईं होय तो भी कोई वात नईं, भैंचो अरीठे किस दिनके वास्ते वनाये हैं भगमान ने? अरीठे की गुठली दे देवै थी कंचों का काम।

उस जमाने में वाऊजी, औरतें अपने वाल धोया करैं थी मुलतानी मिट्टी सै, अरीठे सै, सज्जी सै, दही सै, वेसन सै। वाल सूख जामें तो विनमें कसके चुपड़ैं थीं तेल। तेल होवे था आमले का, गिरी का, और कुछ नईं मिला तो कड़ुआई लगा लेमें थीं। जे आजकल की तरै थोड़ेई था कै मैमसाव को वाल धोना होय तो जाओ मियांजी, दौड़ो वजार और खरीद के लाओ म्हैंगी म्हैंगी सीसियाँ सैम्पू की। आज तो सव मैमसाव जो हो गयी हैं। पैले होमैंथी वउरानी, वऊजी और माँजी। मैमसाहवी का पैला तकाजा है कै तेल लगानाई मैंचो हराम हो गया है। लगे हैं जैसे जो कईं वालों से तेल छुला भी लीना तो जात वाहर कर दी जामैंगी सव की सव। जिसे देखो विसकेई रूखे सूखे छितराये भरांए वाल। कंघी करी तो करी नई तो ऐसेई चलेगा। और अव तो म्हाराज वाल कटानाई जैसे धरम हो गया ऐ। नईं तो साव हमारे वख्त में मजाल है कै किसी सधवा औरत के वालों से कंघी छू तो जाय। सव साली उलटी वातें होती जा रईं हैं आजकल।

खैर साव जाने भी दो। हमें क्या लेना क्या देना इस सवसे? जो जैसा करेगा वो साला खुदई वैसाई भरेगा। हम तो पंडज्जी दूसरीई वातें कर रए थे। मैं कैरिह्या था कै लौंडे सड़क पै गिल्ली डंडा कै गुच्ची पाड़ा खेलते फिरैं थे। गेंद वल्ला, हॉकी, फुटवौल सड़क पै नईं खेला जावे था। वो खेलना होय तो फटी धरती पै जाना पड़ै था, रेल की पटड़ी के पार, संझा की वखत। दिन मैं तो वस गिल्ली-डंडा और नईं तो गुच्ची पाड़ा। लौंडे तो सड़क पै खेला करैं थे पर साव विनके मा वापों का जी धुक धुक करता रेवे था। सड़क तो आप देखई रए औ, इत्ती सी है भैंचो। दो तांगे भी आ जायं आमने सामने से तो देख के, वचा के, संभल के करना पड़ जावे है। उस जमाने में वाइसिकलें भी खूव चला करैं थीं। असली डर इन वाइसिकलों से ही रेवै था। कौन साला कव किस छोरे से जा भिड़े, कुछ कह्या थोड़ेई जा सके था। रोज की वारदातें होती र,हैमें थीं के आज रमुआ का लौंडा चपेट में आ गया तो कल परसादी का।

पर एक वात थी साव। जे आजकल की तरै इसकूटरों और मोटरों का

झमेला नई था जरा भी। अजी किसकी अंटी में इतना नामा धरा था के खरीदता मोटर साइकल कै पालता मोटर ? सारे गोकुलपुरा राजामंडी और वल्काबस्ती में कुल मिला के एक फटफटिया थी मंसादेवी वाले करनल साब की और मोटर तो बाबूजी सिरफ सेठ भरोसीलालई रख सकैं थे। समूचे स्हैर में भौत हुई' भौत हुई' तो दस दस बारै मोटरें होमैंगी। रोज रोज थोड़ेई निकाली जामें थीं वो। रामलीला में रामजी की बरात में निकालैं थे सेठ साहूकार विनै। और नई तो साब जब कलक्टर कमिस्नर साब लोगों को सलाम झुकाने जाना पड़ैं बड़े दिन की डाली लैके कै ऐसेई दूसरे मौके आ जामें तो निकाली जामें थीं मोटरें।

उस जमाने के रईसों की सान सौकत दीखै थी, बग्गी में, टमटम फिटन मैं। और नई तो भी कम से कम तांगे तो रक्खेई थे पैसे वाले। क्या नज्जारा रह्या करे था बिन दिनों। आगे सुसरा कोचमान सिर पै रजवाड़ी साफा बाँधे हाँक रिह्याऐ दो कै चार घोड़ों की बग्गी और सेठजी के पीछे खड़े एं वैसेई साफा डाटे एक कै दो अरदली। वो ठाठ ई कुछ और था साला। पैले के रईसजादे जब सड़कों से गुजरै थे तो भैंचो अतर-फुलैल की खसबोई से हवा चारों तरफ मेहत्तर रैवै थी। आज तो सालों के पीछै धूल उड़ा करै ऐ सुसरी। क्या साब, झूठ केरिह्या होऊं तो जो काले चोर की सजा वो मुझे मंजूर है। क्या कई ?

जेई सब करते-कराते हो जावै थी दुपहैर, बस्ती की आवाजों के ठंडे पड़ने का बखत। गर्मियों में तो एक तरै से सन्नाटाई छा जावै था। आप तो जानौई हो पंडज्जी के आगरे की गर्मी भी कातिल होवैए और जाड़ा तो भैंचो उससे भी ज्यादा कातिल। कैवैहैं के दुपहैर में तो ससुरी चील भी अपना घोंसला नई छोड़ै है। आदमी बिचारै की तो बिसातई कित्ती सी ? सो साब भरी दुपहैरी में तो चिड़िया का पूत भी नजर नई आया करै था। दुकानदार बिड़चो दुकानै बढ़ा-बढ़ा के घर पै आराम करने चले जामैं थे। तुलसी-राम, किद्दो, बद्री हलवाई—सब। बस चलती र्हैवै थीं दो चीजें—एक तो जे दरोगाजी के चांतरेवाली आटे की पनचक्की और एक चुन्नीलाल सुनार की हथौड़ी की ठकठक। कभी-कभार कोई इक्का कै तांगा टिकटिक करता चला आवै तौ चला आवै। नई तो साब, आधी रात की तरियाँ दुपहैर में भी बल्काबस्ती आराम फरमावै थी साली। ●

( 'वल्काबस्ती खेड़े का भला' का अंश )

# विष्णुकांत शास्त्री

## मेरा बचपन

कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने गुलाब के मुसकुराते हुए फूल से कविसुलभ प्रश्न किया था—

> मुसकुराते गुलाब के फूल
> कहाँ पाया मेरा बचपन ?
> सुलभ मेरा भोला बचपन ?
> ढुलकते हिमजल से लोचन,
> अधखिला तन, अधखिला मन,
> धूलि से भरा स्वभाव दुकूल
> मृदुल छवि, पृथुल सरलपन,
> स्व-विस्मित से गुलाब के फूल !
> तुम्हीं सा था मेरा बचपन !

अब मैं यह कैसे कह दूँ कि मेरा भी बचपन ऐसा ही था ! किन्तु आप सोचें तो आपको भी लग सकता है कि आप का बचपन भी कुछ कुछ ऐसा ही था ! बात यह है कि भोलापन, विस्मय भरा उल्लास, सरल विश्वास, सुशोभन लावण्य तो प्रायः सभी को बचपन में दैवी वरदान के सदृश मिलते हैं। किन्तु मानव-बचपन के ये सामान्य गुण भी हमसब की अलग अलग परिस्थितियों और वैयक्तिक विशेषताओं के कारण हर एक में कुछ विशिष्टता की झलक लिये उभरते हैं।

अपने बचपन के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि संरक्षणशील आस्तिक सम्पन्न परिवार के बीच बीतने के कारण वह सुखमय तो था किन्तु खतरा उठाने या जीवन के साथ नये नये प्रयोग करने की प्रेरणा देने में असमर्थ भी था। मेरे पिता पं० गांगेयनरोत्तम शास्त्री संस्कृत-हिन्दी के उद्‌भट विद्वान एवं अत्यन्त मर्यादावादी व्यक्ति थे। उनकी इच्छा ही हमलोगों के लिए कानून थी। मुझे उनसे प्यार-दुलार कम और अनुशासनबोध अधिक मिला। चार भाई और एक बहन। हम पाँचों लोग उनसे इतना डरते थे कि उनके घर

आने पर छिप जाया करते थे। कुशल यही थी कि हमलोगों के पालनपोषण की जिम्मेदारी पूरी तौर पर हमलोगों की नानी माँ, उनकी छोटी वहन, माँ और मामी पर थी। माँ, मामी भी वड़ी नानी माँ और छोटी नानी माँ के निर्देशानुसार ही हमलोगों की देखरेख करती थीं। दो भाई मुझसे वड़े थे और एक भाई तथा एक वहन छोटे। ऐसा लगता है कि इस मध्यस्थिति का भी मुझे मध्यमार्गी वनाने में वड़ा योगदान है।

वचपन में मैं न अधिक चंचल था न शरारती! पढ़ना-लिखना मुझे खेलने कूदने से ज्यादा अच्छा लगता था। इसका एक निश्चित प्रमाण दे सकता हूँ। उन दिनों मैं पहली कक्षा का विद्यार्थी था। हम तीन भाइयों को स्कूल छोड़ने और वहाँ से लाने मोटर जाया करती थी। हमलोगों पर विशेष रूप से नियुक्त नौकर वावूलाल दिनभर स्कूल के दरवाजे पर वैठा वैठा अगोरता रहता था कि हमलोगों से कोई लड़का दुर्व्यवहार न करे, हमलोग दूसरे लड़कों के साथ स्कूल से वाहर न चले जायें। एकदिन मेरी तवीयत कुछ खराव होने के कारण मुझे स्कूल नहीं जाने दिया गया क्योंकि मुझे देखने डॉक्टर आने वाला था। स्कूल में नागा करना वुरी वात है, मुझे यही सिखाया गया था। पढ़ने-लिखने में तेज था, इसलिए मेरे अध्यापक और सहपाठी मुझे मानते थे। फलतः मुझे अपने स्कुल में घर से भी ज्यादा रस मिलता था। मैं स्कूल जाने की जिद करने लगा तो नानी माँ ने मुझे डाँट भी दिया और सीढ़ी के दरवाजे पर कुंडी भी लगा दी। मोटर दोनों वड़े भाइयों को लेकर चली गयी। मैं रोने लगा पर वीमार वच्चे को स्कूल कैसे भेजा जाता! जव माँ, नानी माँ ऊपर भोजन करने गयीं, मैंने एक टूलपर चढ़कर कुंडी खोल ली, धीरेसे अपना वस्ता उठाया और स्कूल का रास्ता पकड़ा। गिरता पड़ता करीव एक मील दूर दो वड़ी सड़कों को पार कर मैं जव स्कूल पहुँचा तो पहला घण्टा समाप्त होने को था। वावूलाल ने मुझे देखा तो उसके होश उड़ गये। स्कूल के दरवान को उसने सख्त हिदायत दी कि हम तीनों में से कोई वाहर न निकलने पाये और वह खुद दौड़ा दौड़ा घर गया यह वताने कि विष्णु भैया तो स्कूल पहुँच गये हैं। मैं भूखा ही आया था अतः टिफिन के समय वावूलाल मेरे लिए घर से पूरी तरकारी और मिठाई भी लाया। मैंने सोचा तव तो रोज विना खाये ही स्कूल आना चाहिए। पर उस दिन शाम को घर पहुँचते ही मेरी ऐसी पिटाई हुई की छठी का दूध याद आ गया। वाद में अपने को सान्त्वना में यही सोच सोच कर देता रहा कि मुझे स्कूल जाने का अपराध करने के लिए मार पड़ी जव कि दूसरों की पिटाई स्कूल न जाने के कारण होती है।

मेरी बड़ी नानी माँ हमलोगों को बहुत प्रेम से कहानियाँ सुनायी करती थीं। रामायण, महाभारत, पुराण आदि की कहानियों का जीवन्त विश्वकोष थीं वे। सभी बच्चों को कहानियाँ सुनना प्रिय लगता है, मुझे तो बहुत ही अच्छा लगता था। उन कहानियों में मैं खो जाता था, उनके चरित्रों के साथ अपने को जोड़ कर अपने उपयुक्त भूमिका की तलाश करने लगता था। कथा साहित्य से प्रेम का बीज मेरे बालमन में नानी माँ ने ही बोया था।

धार्मिक संस्कार का शिलान्यास भी मेरे मन में मुख्यतः उन्होंने ही किया। हमलोगों को प्रति दिन ठाकुर घर जाकर प्रणाम करने और चरणामृत लेने के बाद ही भोजन मिलता था। उसके सम्बन्ध में भी एक बात नानी माँ ने मेरे मन में ऐसी बैठा दी कि अबतक वह वज्रलेख के रूप में जमी हुई है। नानी माँ ने कहा कि देखो घर में जो भोजन बनता है, वह पहले ठाकुरजी को भोग लगाया जाता है। ठाकुरजी के नैवेद्य-ग्रहण कर लेने के बाद वह प्रसाद हो जाता है। अब प्रसाद को कैसे नकारा जा सकता है। जो चीज ठाकुरजी को भोग लग गयी, उसे न खाना तो अपराध है। इस तर्क का ऐसा असर हुआ है मुझ पर कि आज भी घर में जो भी बनता है, उसे हाथ जोड़ कर प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लेता हूँ, कभी स्वाद आदि के सवाल उठा कर नाहीं-नूकुर नहीं करता।

पिताजी को संस्कृत के हजारों श्लोक कंठस्थ थे। वे पुरानी परिपाटी से पढ़े थे जिसका आदर्श था विद्या कंठ और पैसा गंठ अर्थात् समय पर वही विद्या काम आती है जो जबानी याद हो और वही पैसा मदद करता है जो अपनी गाँठ में हो। पैसा तो खैर मेरी गाँठ में कभी ज्यादा आया नहीं, हाँ विद्या के सम्बन्ध में कुछ दूर तक मैं भी अपने पिता के चरणचिन्हों पर चला। लोगों का कहना है कि मुझे भी संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू, अंग्रेजी की ढेरों कविताएँ याद हैं। और जब मैं रौ में आता हूँ तो घंटों अपने मित्रों को कविता सुनाता हूँ। मेरी माँ को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने बचपन में ही मुझे बहुत से अच्छे श्लोक और छन्द याद कराये और फिर तो मेरा यह शौक ही बन गया कि अच्छी काव्य-पंक्तियों को मैं अपनी डायरी में उतार लूँ और उन्हें कंठस्थ कर समय पर मर्मवेधी बाण की तरह उनका सदुपयोग करूँ। मेरा लेखन औसत से काफी अच्छा होता है, इसका पहला अहसास मुझे छठी कक्षा में हुआ था। हिन्दी की कक्षा में एक निबन्ध लिखने के लिए दिया गया था। हिन्दी के अध्यापक थे पं० हरिशंकर शर्मा। उन्होंने न केवल मेरे निबन्ध पर २० में से १८ अंक दिये, उसे कक्षा में पढ़कर

सुनाया भी। लिखने का बीज यदि पहले से मन में रहा भी हो तो वह अंकुरित उसी दिन हुआ।

मैं आज जी योगासन नियमपूर्वक करता हूँ। नियमित व्यायाम करने का संस्कार हमलोगों के पालक नौकर बाबूलाल कहार ने डाला था। वह मुझे बहुत प्यार करता था, कहता था मैं एक दिन बड़ा बैरिस्टर बनूँगा। मैंने एल० एल० बी० परीक्षा तो पास की, बाबूजी के आदेशानुसार बड़े एडवोकेट के अधीन काम सीखने के लिये नाम भी लिखा लिया किन्तु विश्वविद्यालय में अध्यापक पद पर नियुक्त हो जाने पर मैंने बाबूजी से विनयपूर्वक किन्तु दृढ़ता-पूर्वक कह दिया कि अब मैं हिन्दी साहित्य की सेवा में ही जीवन लगाऊँगा, कानून की व्याख्या नहीं करूँगा। जो हो, बात बचपन की चल रही थी। बाबूलाल ने समझाया कि जो बच्चा कसरत करता है, उसका शरीर गठ जाता है, ताकतवर हो जाता है, फिर दूसरे लड़के स्वयं उससे डरने लगते हैं, उसे मारते-पीटते या तंग नहीं करते। बात मेरी समझ में आ गयी। बचपन से ही मैं कसरत करने लगा। वह मेरे भोजन पर भी बहुत ध्यान रखता था और रात को बड़े कटोरे में दूध भरकर रोटी तोड़ तोड़ कर उस में भिगो कर चीनी मिलाकर मीठी मलाई बनाकर मुझे खिलाता था। मेरा स्वास्थ्य सचमुच अच्छा था और मुझे तंग करने का दुस्साहस कभी किसी लड़के ने नहीं किया।

बचपन तो बीत गया और मैंने कभी भावुक होकर सुभद्रा कुमारी चौहान की तरह 'बार बार आती है तुझको मधुर याद बचपन तेरी। गया ले गया तू जीवन की सबसे मस्त खुशी मेरी' की रट नहीं लगायी, न पंतजी की तरह प्रभु से कभी प्रार्थना ही की 'चित्रकार! क्या करुणाकर फिर मेरा भोला बालापन/मेरे यौवन के अंचल में चित्रित कर दोगे पावन!' इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि शायद उसने मुझे पूरी तरह से छोड़ा ही नहीं। मेरे बहुत से विज्ञ मित्रों का सुचिन्तित मत है कि मैं अब भी जबतब बचपना करता रहता हूँ, बात बात पर ठठाकर हँस पड़ता हूँ, बच्चों में बच्चा बन जाता हूँ, अपनी उम्र और पदमर्यादा का ध्यान रखे बिना ही उत्साह के अतिरेक में ऐसे कामों पर भी जुट जाता हूँ जो लड़कों को ही शोभा देते हैं। ऐसा नहीं है कि इन मित्रों की राय की मैं कद्र नहीं करता 'पर क्या करूँ समझदारी से मनकी अनबन है!' इसे प्रभु की कृपा ही मानता हूँ कि सैकड़ों चोटें खाकर भी मन अभी तक पक्का दुनियादार नहीं बन सका है, उसमें अब भी बाकी है, जीवन का तुतला-उपक्रम!' ●

# अलखनारायण

## भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानंद राष्ट्रीय नव जागरण के संदर्भ में

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानंद सन् १८५७ के जन विद्रोह वा स्वाधीनता संग्राम से उत्पन्न नवजागरण के आलोक में अपने क्रांतिकारी-सांस्कृतिक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं अर्थात् इनका भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अभ्युदय उस समय होता है जब बंगला नवजागरण के पुरोधागण "ब्रह्म समाज" के संदर्भ में सैद्धांतिक मतभेद के कारण पूर्णतया विभाजित हो चुके थे। इस समय तक दयानन्द ने उत्तर भारत में संस्कृत के अन्यतम वक्ता तथा "वेदों" के महत्तम विद्वान के रूप में व्यापक ख्याति अर्जित कर ली थी। छुआछूत, जातिप्रथा तथा समाज में व्याप्त कर्मकांड वा पौरोहित्यवाद के कट्टर आलोचक तथा स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह के पैरोकार के रूप में भी उन्होंने पर्याप्त नामार्जन कर लिया था। यही कारण था कि बंगला नवजागरण के नेताओं तथा अन्य बुद्धिजीवियों ने भी दयानन्द का उनकी द्वन्द्वात्मक तर्क प्रणाली तथा कतिपय नवीन उद्भावनाओं के कारण स्वागत किया। दयानन्द जतीन्द्रमोहन टैगोर के अतिथि की हैसियत से चार महीने तक कलकत्ते में रहे और अपने क्रांतिकारी विचारों से उन्हें अवगत कराया।

बंगला नवजागरण के अन्यतम प्रतिनिधियों—केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि ने दयानन्द को आमन्त्रित किया व उनकी अवधारणाओं को गंभीरतापूर्वक जानने-सुनने की उत्सुकता दिखाई तथा अत्यधिक प्रभावित भी हुए। "हिन्दू धर्मेर श्रेष्ठता" के प्रख्यात लेखक तथा तत्कालीन बंगाल के सांस्कृतिक जीवन में नई उद्भावनाओं का अनुप्रवेश कराने वाले राजनारायण बोस की स्वामी दयानन्द के साथ मुलाकात को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, एवं बंकिम चन्द्र द्वारा अत्यधिक महत्व दिया गया था। भारतेन्दु बाबू बंगला नवजागरण के कई महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों के निकट सम्पर्क में थे। वे उनसे प्रेरित भी हुए और उन्हें प्रभावित भी किया। विद्यासागर जैसे समाज सुधारक और संस्कृति के प्रकाण्ड पंडित उनके संस्कृति-ज्ञान तथा समाजोद्धार की भावना का सम्मान करते थे। केशवचन्द्र सेन ने भारतेन्दु की प्रशंसा उनकी ईश्वर भक्ति व अक्खड़ता के कारण की थी जबकि दयानन्द ने सेन साहब के साथ इसकी विपरीत धारा के संबंध में भी बहस की थी,

खास तौर से पौराणिक वाङ्मय के संबंध में। भारतेन्दु के अक्खड़ व्यक्तित्व की उत्कृष्ट झलक हमें वहाँ मिलती है जब वे अपने एशियाटिक सोसाइटी वाले परम मित्र राजेन्द्र लाल मित्र की इस स्थापना का विरोध करते हैं कि : "मांस ही क्यों, गोमांस तथा मद्यपान से भी कोई दोष नहीं है।" इस प्रसंग की चर्चा "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में विस्तार से है। यहाँ भारतेन्दु की तर्कना-शक्ति देखने लायक है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। उनके समक्ष सांस्कृतिक-साहित्यिक अनेक समस्याएँ थी। "एक ओर दरवारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर आम जनता में सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिए वातावरण तैयार करना था। साहित्य में देश के वढ़ते असंतोष को प्रकट करना था; सदियों से चले आते, समाज की हड्डियों में बसे हुए सामंती कुसंस्कारों से भी मोर्चा लेना था। यह दूसरा काम कठिन था। जनता के पुराने संस्कारों को छूना उसके धर्म को चुनौती देना था।" (डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग पृष्ठ-६)।

भारतेन्दु वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले हिन्दुओं में से थे किन्तु धर्म के प्रति आस्था रखते हुए भी हिन्दू धर्म की रूढ़ियों और गलाज़त की धज्जियाँ उड़ाते थे और हिन्दुओं के शास्त्र को "पंसारी की दुकान" कहते थे। उन्होंने लिखा है कि—"जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है, उस भाव से आगे नहीं चलेगा। जब पेट भर खाने को भी नहीं मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा।" अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु नए विचारों को खुले दिल से अपनाते थे। "वह स्वामी दयानन्द के विरोधियों में थे। उन्होंने दयानन्द से लोहा लिया था, फिर भी सनातनी हिन्दू उनसे प्रसन्न न थे और दयानन्द की भाँति उन्हें भी "क्रिस्तान" कहते थे।

स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र देश की जनता में नवीन चेतना जगाना चाहते थे जो उसे सर्वतोमुखी जागरूकता प्रदान करे ताकि वह राजनीतिक और सांस्कृतिक पराधीनता को पहचाने तथा परखे एवं इसके विरुद्ध संघर्ष कर सके अर्थात् दोनों का लक्ष्य समाज को सुधारना था। किन्तु यह एक वस्तुगत सच्चाई है कि एक ओर तो ये अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए उत्सुक थे और दूसरी ओर उस सांस्कृतिक परम्परा का अपनी सोच के अनुकूल विकास भी चाहते थे अर्थात् ये सांस्कृतिक चिंतक अतीत के स्वप्न में ही बिल्कुल उलझे रहना नहीं चाहते थे; वे भविष्य पर दृष्टि जमाए थे और नितान्त नई दिशाओं में आगे वढ़ने का आग्रह रखते थे।

दयानन्द सरस्वती के भीतर समाजिक विषमता, अन्याय एवं पाखंड को भस्म कर देने वाली आग धधक रही थी। उन्होंने शोषण और विषमता से रहित एक नए समाज का सपना देखा था। उनके इस सपने का ही नाम आर्य समाज है। इस संदर्भ में स्वामी जी के मतों पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। उनके समक्ष सांस्कृतिक-साहित्यिक अनेक समस्याएँ थी। "एक ओर दरबारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर आम जनता में सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के लिए वातावरण तैयार करना था। यद्यपि स्वामी दयानन्द रचनात्मक साहित्य-सृजन के क्षेत्र से लगभग अलग थे किन्तु थे आम जनता में सामाजिक सांस्कृतिक नवजागरण के लिए विकट रूप से कटिबद्ध। इसी वजह से भारतेन्दु उनकी प्रशंसा करते थे।

भारतेन्दु राजभक्त भी थे देश भक्त भी, घोर वैष्णव भी थे और निष्कपट क्रांतिकारी भी। दरबारी संस्कृति में भागीदारी उनकी विवशता थी और जन संस्कृति का विकास उनका काम्य था। स्वामी दयानन्द के सामने इस तरह का कोई द्वन्द्व नहीं था, वह एक स्वाभाविक संत थे—कबीर या गुरू नानक देव जैसा संत, जिसे सत्ता या दरबार से कुछ लेना-देना नहीं होता; सामाजिक कुरीतियों, अन्याय, शोषण और दोहन के मूलोच्चाटन की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाना, समाज में शांति, भ्रातृत्व सौहार्द तथा समता का प्रचार-प्रसार करना जिसके जीवन का एकल्प उद्देश्य होता है।

निष्ठा और साहस दोनों में समान रूप से थे। सुधारवादी दृष्टि दोनों की थी; वैदिक आदर्श हो या वैष्णवी कट्टरता पुनरुत्थानवादी भावधारा से आंशिक रूप में दोनों ग्रस्त थे। किन्तु लोक चैतन्य और सामाजिक परिवर्तन के प्रति अविरल आस्था के कारण दोनों क्रांतिकारी थे। दयानन्द की तरह भारतेन्दु ने भी वर्ण और जाति प्रथा का मज़ाक उड़ाया और भर्त्सना की—"सबे जाति गोपाल की," तथा "ज्ञाति विवेकनी सभा" जैसी व्यंग्य-पुष्ट रचनाएँ इस संदर्भ में देखी जानी चाहिए। हिन्दू पुनरुत्थानवाद का आरोप दोनों पर है—वैसा ही जैसा हिन्दू धर्म के दुश्मन होने का आरोप; किन्तु सच्चाई यह है कि दोनों सभी जातियों की एकता चाहते थे, भारतवासी सभी हिन्दू हैं, ऐसा दोनों मानते थे। इस संदर्भ में दयानन्द के "सत्यार्थ प्रकाश" में व्यक्त विचार का उल्लेख कर चुका हूँ। भारतेन्दु ने बलिया वाले अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा था "इस महामंत्र का जाप करो, जो हिन्दुस्तान में रहे चाहे किसी रंग किसी जाति का क्यों न हो वह हिन्दू है।

हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, मुसलमान सब एक का हाथ पकड़ो।" इसे भारत देश और भारतवासियों का दुर्भाग्य ही मानना पड़ेगा कि इन दोनों के सपने अधूरे ही नहीं रह गए बल्कि इनकी भावनाओं के विपरीत हमारे देश में विलगाववादी-अराजकतावादी शक्तियों के पैर मजबूत होते गए जिसका मुख्य कारण पूंजीवाद तथा सामंत-वादी भावधारा और सोच को नए सिरे से आँच और पानी देना रहा है। कहना अनिवार्य नहीं कि अंग्रेज़ी राज ने परिवृत्ति की इस प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने में कोई कोर-कसर रख नहीं छोड़ी थी। १८५७ के विद्रोह को जहाँ एक ओर कार्ल मार्क्स राष्ट्रीय विद्रोह वा जन विद्रोह कह चुके थे, वहाँ दूसरी ओर "इंडिया थ्रू द एजेज़" के लेखक फ्लोरा एनी ने वर्षों बाद ही सही इसे कृषकों के शान्त एवं स्थिर जीवन में जागरण लाने या नई चेतना के प्रवेश कराने" के प्रयास के रूप में देखा वहीं अनेक भारतीय इतिहासकारों ने इस जनविद्रोह को, जनजागरण के इस प्रयास को, गद्दारी के रूप में देखा। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी तथा महादेव गोविन्द रानाडे जैसे नरमपंथी नेताओं ने भी कृषक समस्या के संबंध में ज़मींदारों की भूसम्पत्तियों को बनाए रखने और बड़ी ज़मींदारियों के क्रमिक विकास को बढ़ावा देने की वकालत की थी। जाहिर है, स्वामी दयानन्द तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस राष्ट्र का सपना देखा था, सदियों पुरानी सड़ी-गली मान्यताओं से भारतीय जनगण को मुक्ति दिलानी चाही थी, ऐसी परिस्थिति में वह कैसे संभव हो सकती थी। अंग्रेज़ शासकों ने अपनी स्वार्थ पूर्ति को ध्यान में रख कर १८५७ के गदर (राष्ट्र विद्रोह) के बाद सामन्तों का पक्ष ग्रहण करने के लिए उन्हें अत्यधिक रियायतें दीं, शोषण में उनकी रिश्ते-दारी को कानूनी रूप दे दिया। इस तरह विदेशी शासन और देशी सामंत की मिली भगत के तहत भारतीय जनता बुरी तरह लुट रही थी। "यहाँ के राजाओं महाराजाओं, पंडे पुरोहितों, मौलवियों और ओल्लमाओं का साहित्य इस लूट को या तो बढ़ावा देता था या उसे छिपाता था" (डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ४६)। इसी लूट और शोषण-दोहन में सहायक वा सहयोगी बने रहने के कारण दयानन्द ने सामंती व्यवस्था के मूलाधार धार्मिक आडम्बरों, मूर्ति पूजा, पुरोहितों की संस्कृति तथा कर्मकांड के खिलाफ़ खुली बगावत की थी। ध्यातव्य है कि भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम करते हुए भारतेन्दु भी पुरोहितों की संस्कृति तथा कर्मकांड का विरोध पूरी शक्ति से करते रहे। अभिप्राय यह कि भारतेन्दु साहित्यिक नव-

निर्माण के साथ-साथ सांस्कृतिक नवजागरण में भी हाथ वँटाते हैं जबकि दयानन्द सामाजिक-सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत हैं, हिन्दी भाषा के अन्यतम प्रचारक हैं।

स्वामी दयानन्द की भूमिका का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि १८५७ के राष्ट्रीय विद्रोह के बाद महारानी विक्टोरिया द्वारा धार्मिक निष्पक्षता की घोषणा से मध्यकालीन रूढ़िवादियों को जो प्रोत्साहन मिला उसका उन्होंने डटकर प्रतिवाद किया। राजा राम मोहन राय पश्चिमी शिक्षा द्वारा भारत से जिस अंध विश्वास, रूढ़िवादिता आदि को समाप्त करना चाहते थे, उसकी जड़ और भी मजबूत हो गई। जनता भाग्यवाद, बहुदेववाद, तीर्थ यात्रा, मूर्ति पूजा तथा भूत-प्रेतों आदि परम्परागत अन्ध विश्वासों में जकड़ी थी। स्वामी दयानन्द ने ऐसे समय में वेदों के आलोक द्वारा यहाँ की रूढ़िवादी जनता को अन्ध विश्वासों से निकालने की दिशा में सक्रिय पदक्षेप किया। मूर्ति-पूजा, तीर्थयात्रा आदि का जम कर विरोध किया। राजा राम मोहन राय की अपेक्षा स्वामी दयानन्द का प्रभाव भारतीयों के लिए अधिक ग्राह्य था क्योंकि उन्होंने पश्चिमी आदर्शों का आश्रय न लेकर शुद्ध भारतीय आदर्शों का सहारा लिया। उन्होंने वेदों के प्रमाण देते हुए हिन्दू धर्म की कुरीतियों पर प्रहार कर वैदिक मान्यताओं की स्थापना पर जोर दिया।

भारतेन्दु साहित्य को जनगण की सेवा करने का माध्यम मानते थे। स्वामी दयानन्द ने, अपने नितान्त मौलिक ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" के अतिरिक्त जो भी और जिस प्रकार का साहित्य लिखा उसका मुख्य उद्देश्य देश में, खास तौर से उत्तर भारत में, सामाजिक और राजनीति चेतना फैलाना था। दयानन्द की इसी समाज-सेवा की भावना तथा क्रांतिकारी चेतना फैलाना था। दयानन्द की इसी समाज-सेवा की भावना तथा क्रांतिकारी चेतना को लक्ष्य कर जहाँ एक ओर पाश्चात्य दार्शनिक एंडजेक्शन डेविस की धारणा थी कि : "मुझे पूर्व की दिशा में एक आग दिखलाई देती है, जो दयानन्द के दिल में सुलग रही है और आर्य समाज की भट्टी में धधक रही है" ( द टेलीग्राफ, ३० अक्तूबर, १९८३ अंक में आर. के. गुप्ता के लेख— "मिक्सचर आफ ऑर्थोडॉक्सी एण्ड फ्री थॉट" में उद्धृत ) वहाँ दूसरी ओर प्रख्यात साहित्यालोचक, इतिहासविद् तथा भाषाविज्ञानी डॉ० राम विलास शर्मा की दृष्टि में—"उन्नीसवीं सदी के एक समाज सुधारक का नाम था स्वामी दयानन्द सरस्वती। उसने विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, नियोग, मूर्ति-

खंडन आदि का प्रचार करके तहलका मचा दिया था" ( भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ६० )।

प्रश्न है कि दयानन्द के मन में यह आग क्यों लगी और वे तहलका मचाने पर क्यों उतारू हो गए ? उत्तर एकदम स्पष्ट है, उनके मन में लगी आग का मुख्य कारण भारतीय समाज में व्याप्त वह सड़ा और गलाजत थी जो आर्थिक विषमता, सामाजिक अन्याय-अत्याचार, विदेशी गुलामी, धार्मिक पाखंड और वर्ण व्यवस्था" की वजह से पैदा हुई थी।

हम यह नहीं मानते कि दयानन्द हमारे देश की जटिल संरचना की वैज्ञानिक समझ से लैस थे या उन्होंने समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम की पेचीदगियों का यथार्थवादी विश्लेषण करते हुए वर्ण-व्यवस्था या जातिगत संबंध के वर्गीय आधार की भली-भाँति पहचान कर ली थी किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि, इन समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण अराजकतावादी या साम्प्रदायिक था अथवा वे मात्र कट्टर धर्मगुरु थे। यह तो एक साधारण समाज सुधारक भी मानता है कि उन्होंने हिन्दू समाज को रूढ़ियों के चंगुल से निकाल कर सच्ची वैदिक चर्या का अनुसरण करने की प्रेरणा दी। यह उनका ही साहस था कि धर्म के ठेकेदारों के विरुद्ध, जात-पात व छूआछूत एवं वर्ण व्यवस्था के खिलाफ वे आवाज बुलन्द कर सके। स्वामी दयानन्द ने हिन्दी भाषा तथा "स्वदेशी" एवं राष्ट्रवाद के लिए प्रभावशाली आन्दोलन चलाया। यह काम उन्होंने वंगभंग और कांग्रेस द्वारा स्वदेशी आन्दोलन के पूर्व ही कर लिया था। वंकिमचन्द्र ने वैदिक-साहित्य पर अपने एक व्याख्यान में कहा था कि "दयानन्द के अनेक व्याख्यानों का तात्कालिक महत्व तो है ही इनका दूरगामी परिणाम भी सुनिश्चित है।" स्वामी विवेकानन्द ने चन्दननगर वाले अपने बहुचर्चित भाषण में कहा था कि "दयानन्द अवसर पाते ही रामानुज को धराशायी किए विना नहीं छोड़ते थे।" विवेकानन्द के इस कथन से दयानन्द की अपनी सैद्धान्तिक आस्था की नैतिक पुष्टि ही होती है।

चर्चा हो चुकी है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विद्यासागर तथा केशवचन्द्र सेन तथा "ब्रह्म समाज" से कई तरह की प्रेरणाएँ ली थीं। स्वामी दयानन्द के साथ ऐसी कोई वात नहीं, सिवाय इसके कि केशवचन्द्र सेन ने उन्हें संस्कृत की जगह हिन्दी में व्याख्यान देने का परामर्श दिया था एवं विद्यासागर ने उनसे पोशाक वदलने का आग्रह किया जिसे दयानन्द ने स्वीकार कर लिया

था। फिर भी दयानन्द की धार्मिक अवधारणाओं एवं ब्रह्म समाज के धर्म संवंधी दृष्टिकोण में बुनियादी फर्क है। दयानन्द की तुलना एक अंग्रेज लेखक ने मार्टिन लूथर से की है। दयानन्द ने ट्रैडिशनल मूर्ति पूजा तथा पुरोहितों की जागीर "मन्दिरों" का प्रतिवाद किया और मार्टिन लूथर ने रोम के चर्च के अस्तित्व को ही अस्वीकृत कर दिया था। लूथर ने जनता से अपील की थी कि उन चर्चों से दूर रहो जो तुम्हें पुजारियों का गुलाम वनाते हैं। लूथर अपने देश की जनता को स्क्रिप्चर्स की ओर जाने को प्रेरित करते थे। दयानन्द ने जनता से अपील की थी कि ब्राह्मण पुरोहितों की शिक्षा से दूर रहो जो तुम्हें सदा गुलाम वनाए रखना चाहते हैं। दयानन्द का उद्देश्य जनता को एक ही सत्ता के अधीन लाना था जिसे वे "डिवाइन" कहते थे। मार्टिन लूथर के संघर्ष का नारा था—"वैक टु द वाइवल" (वाइविल की ओर लौटो) और दयानन्द का उद्घोष था—"वैक टु द वेद्स" (वेदों की ओर लौटो) अवधारणा, उनका यही स्वप्न, आर्य समाज के रूप में प्रतिफलित हुआ।

आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य क्या था? दयानन्द की पुस्तक "सत्यार्थ प्रकाश" के अनुसार उसका मुख्य उद्देश्य था – "संसार का उपकार करना।" हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई का भेदभाव किए वगैर मानव मात्र का उद्धार करना। शुद्ध धार्मिक नेता की तरह वे सिर्फ मनुष्य का तथाकथित "आध्यात्मिक विकास" ही नहीं शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना चाहते थे। दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनेकशः अवेस्ता, वाइविल, कुरान तथा ग्रन्थ साहव की स्थापनाओं के प्रति सकारात्मक दृष्टि अपनाई है, यद्यपि जहाँ-तहाँ इस संदर्भ में कतिपय कटूक्तियाँ मिल जातीं हैं अतः दयानन्द के सन्दर्भ में आर० के० दास गुप्ता का यह कहना ठीक नहीं है कि "दयानन्द जड़-मूल से ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के विरोधी थे और उनका धार्मिक लक्ष्य भारत से इन दोनों मतों को निष्कासित कर देना था (द टेलीग्राफ ३० अक्तुवर, १९८३)। कतिपय अंग्रेज विचारकों ने भी इसी तरह की पूर्वग्रह युक्त धारणा व्यक्त की है। एक ने कहा कि इस स्वदेशी योद्धा के धार्मिक चिन्तन में एक प्रवल राजनीतिक राष्ट्रवाद के तत्व विद्यमान हैं। डॉक्टर ग्रिस्वोल्ड ने लिखा है कि—"दयानन्द का आदर्श था—भारतीयों के लिए धर्म तथा भारतीयों के लिए सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता" (इंडियन इवानजेलिकल रिव्यू, जनवरी, १८९२)।

दयानन्द की मृत्यु के अठारह वर्षों के बाद सर वेलनटीन किरोल ने ,अपनी पुस्तक "इंडियन अनरेस्ट" में लिखा कि : दयानन्द एक राजनीतिक योजना बनाने वाले थे। उनका प्रभाव उनके अपने प्रान्त या भारत के किसी दूसरे हिस्से की अपेक्षा पंजाब में अधिक था क्योंकि ईसाई तथा इस्लाम धर्म के विरुद्ध पंजाब के लोग अपेक्षा अधिक उदग्र थे।" स्वामी दयानन्द के बारे में इस तरह के विचारों का खण्डन "गेम्स आँफ वेदिक विजडम (२)" पुस्तक में भली-भाँति कर दिया गया है।

इस तथ्य से इन्कार करने का कोई कारण नहीं बनता कि स्वामी दयानन्द में कट्टरता थी। शायद इसका एक कारण यह भी हो कि वे शास्त्रार्थ करने के अभ्यस्त थे। हिन्दू पुनरुत्थानवाद की पक्षधरता के सिलसिले में उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो स्वयं "हिन्दुत्व" के विरुद्ध चली जाती हैं। जब वह वेदों—जिसका अभिप्राय संहिताओं—ऋग्वेद, यजवेंद, सामवेद तथ अथर्ववेद से था, की दिव्यता और अभ्राँति का पक्ष ग्रहण करते हैं तब वह उपनिषदों तथा समस्त वेदान्तिक सूत्रों को एक सिरे से खारिज कर देते हैं जो न जाने कब से हिन्दुत्व को संरक्षण प्रदान करते रहे हैं। जब दयानन्द "वेदों की दिव्यता" की बात कहते हैं उस समय भी पारम्परिक हिन्दू दृष्टिकोण से उनका अभिप्राय नितान्त् भिन्न होता है। वह इस तथ्य को भी अस्वीकार कर देते हैं कि वेद "श्रुति" है। उनके मत से वेद कालातीत है, वेदों को समय यानि किसी काल-खंड में बाँधा नहीं जा सकता। अभिप्राय यह कि वेदों के निर्माण में वह किसी मनुष्य (मुनियों या सिद्धजनों) की साझेदारी को बेबुनियाद करार देते हैं। उनकी इसी तरह की स्थापनाओं के आधार पर मैक्समूलर ने उन्हें "कट्टरता और स्वतंत्र (मौलिक) विचारों का विचित्र अवलेह" कहा था।

स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन और साहित्य समग्रतः अपने देश और समाज के लिए समर्पित था। इन्होंने अपने जीवन को समाजोद्धार के लिए, साधारण जनगण को जगाने के लिए स्वाहा कर दिया। जातीय जागरण के इन पुरोधाओं का लक्ष्य जनजागरण व जनसंगठन था।

लेख में अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि दयानन्द के जनजागरण का रूप कुछ कट्टरता लिए हुए था, उसमें अनुदारता और असहिष्णुता की भावना खटकने की सीमा छू लेती है। यही कारण था कि कट्टर से कट्टर ब्रह्मवादी भी दयानन्द से तर्क-वितर्क नहीं करता क्योंकि वह एक "व्यक्तिगत ईश्वर" में विश्वास रखते थे और शंकर के "अद्वैत सिद्धान्त" को अस्वीकारते थे।

उनकी धारणा थी कि, जिस विश्व में हम हैं, जिस जगत में हम मर-खप रहे हैं वह वास्तविक है, यथार्थ है, भ्रम या मिथ्या नहीं; उनकी यह अवधारणा उनके दर्शन को आधुनिक विज्ञान की आधिभौतिक चिंता-धारा से जोड़ देती है।

भारतेन्दु वाबू के समाजोद्धार आन्दोलन का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक उदार और सहिष्णुतायुक्त था। और जैसा कह चुका हूँ उनका कार्य-क्षेत्र अत्यधिक व्यापक था। भारतेन्दु का "जीवनोद्देश्य ही जन-साहित्य रचना" था। दयानन्द "भारतवर्ष के एक महान सपूत तथा उत्तर भारत में एक नवीन पथ के अनुसंधानकर्ता" (रवीन्द्रनाथ टैगोर) के रूप में स्वीकृति प्राप्त कर चुके थे। जातीय नवजागरण के इन विलक्षण व्यक्तित्वों को किसी भी रूप में अनदेखा नहीं किया जा सकता, तब तो और भी नहीं जव आज के नए लेखक यह कहते पाये जा रहे हैं कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी क्षेत्र की इन प्रतिभाओं ने शिक्षित अशिक्षित जनता को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया था और किसी न किसी रूप में वर्तमान समाज और साहित्य में इनका प्रभाव विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है कि, भारतेन्दु ने अपने साहित्य में जनता के अधिकारों की लड़ाई लड़ी थी और दयानन्द ने सामाजिक रूढ़ियों, खास तौर से जात-पात-वर्ण व्यवस्था का तीव्र प्रतिवाद किया था। इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रभाव-प्रसार आज के साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन में सहज-लक्ष्य है। समकालीन प्रगतिशील व जनाकांक्षी लेखकों का साहित्य जनता के अधिकारों, जनतांत्रिक मूल्यों का पक्षधर साहित्य है। यह भारतेन्दु द्वारा स्थिर उस परम्परा की देन है जो प्रेमचंद, निराला, राहुल सांकृत्यायन तथा नागार्जुन आदि से छनती हुई आज की पीढ़ी तक आई है।

दयानन्द और भारतेन्दु इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि भारत-वासी जाग नहीं पा रहे हैं, अतः जनजागरण के लिए जहाँ दयानन्द ने व्याख्यानों और शास्त्रार्थ का सहारा लिया वहाँ भारतेन्दु ने नाटकों व प्रहसनों का। यद्यपि इस कार्य के लिए उन्होंने यह भी प्रस्तावित किया था कि: "जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें वनें और वे सारे देश; गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जाएँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी वह सार्वदेशिक होगी और यह भी विदित है कि जितना ग्रामीण गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है; उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे

साधारण लोगों के चित्त पर इन वातों का अँकुर जमाने को, इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाए तो वहुत कुछ संस्कार वदल जाने की आशा है।" ( जातीय संगीत )।

भारतेन्दु को नाटक की दिशा में कार्य करने की प्रेरणा वंगला नाटकों से मिली थी जिसका उल्लेख उन्होंने अपने वहु-चर्चित निवंध "नाटक" में किया है। उनकी दृढ़ धारणा वन गई थी कि सामाजिक सुधार व जन-शिक्षण के लिए नाटक से अच्छा कोई दूसरा माध्यम नहीं हो सकता। इस तथ्य की पुष्टि भारतेन्दु की कविताओं और नाटकों के समानान्तर अध्ययन से सहज ही हो जाती है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा कि "नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा वदल चली थी'।—वंग देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था। जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिविम्व आने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया।

भारतेन्दु की दृढ़ धारणा थी कि "साहित्य जनता की सेवा के लिए है तथा आजादी और गुलामी के वीच न साहित्य तटस्थ रह सकता है न साहित्यकार।" हिन्दी में "सोद्देश्य लेखन" की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही आरम्भ होती है।

स्वामी दयानन्द की तरह ही जनगण में जागरण की चेतना के प्रसार के निमित्त भारतेन्दु ने व्याख्यानों का भी आश्रय लिया था अर्थात् वे एक उच्च कोटि के वक्ता भी थे ; इस संदर्भ में उनके वलिया वाले व्याख्यान का ऐतिहासिक महत्व है, जिससे सजग पाठक वहुत अच्छी तरह परिचित हैं।

हिन्दी-भाषा और साहित्य को प्रदत्त अवदान के आधार पर भारतेन्दु को आधुनिक काल के साहित्य का प्रवर्तक और पितामह माना जाता है। उनकी स्पष्ट घोषणा है : "निज भाषा उन्नति अहै सव उन्नति को मूल।" भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य को मात्र नया संस्कार ही नहीं दिया वल्कि लगभग समस्त विधाओं में रचनात्मक पहल भी की और इस तरह हिन्दी-साहित्य की धारा को एक सर्वथा नया यथार्थवादी, राष्ट्रीय तथा प्रगतिशील संदर्भ प्रदान किया। फिर यह श्रेय भी भारतेन्दु वावू को ही जाता है कि हास्य-व्यंग्य के माध्यम से भी देश-समाज की सच्चाई को गहनतम अर्थ प्रदान किया जा सकता है। आधुनिक

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु ने हास्य-व्यंग्य-विद्रूप की जो नींव गद्य रचनाओं के माध्यम से रखी थी उसका विकसित रूप हमें प्रेमचंद, निराला, उग्र, नागार्जुन तथा राधाकृष्ण के साहित्य में दिखाई पड़ता है और जिसका परि-परिपक्व रूप हम हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचनाओं में पाते हैं। भारतेन्दु की तरह ही हरिशंकर परसाई हास्य व्यंग्य का प्रयोग मनोरंजन मात्र के लिए नहीं करते बल्कि उनके हास्य-व्यंग्य का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करना होता है, शोषकों और ढोंगियों की बखिया उधेड़ना तथा उनकी काली करतूतों का पर्दाफाश करना होता है।

प्राचीन संस्कृति के नाम पर उसके भीतर घुसे हुए आदमी को जानवर की सीमा तक फेंक देने वाले तत्वों का दयानन्द और भारतेन्दु ने पूरी शक्ति से प्रतिवाद किया। दयानन्द ने तो साधारण जनता को ठगने वाली संस्कृति का प्रतिवाद करते हुए आवेश और आक्रोश के वशीभूत अपने प्रतिवाद को ऐसा रुख प्रदान कर दिया जिसके फलस्वरूप उन्हें कई प्रिय भाजनों से टक-राना पड़ा। भारतेन्दु बाबू भी उनमें से एक थे। इस संदर्भ की तनिक विस्तार से आगे चर्चा की जाएगी।

स्वामी दयानन्द ने आर्थिक शोषण, सामाजिक विषमता, धार्मिक पाखंड का तीव्र प्रतिवाद तो किया ही था किन्तु उनका सर्वाधिक जोर वर्ण व्यवस्था और जात-पात के विरुद्ध संघर्ष पर था। वह प्रायः ही कहा करते थे कि जन्मगत जात-पात के रहते किसी संदेह रहित स्वस्थ समाज की बात सोची ही नहीं जा सकती। ये बातें दयानन्द ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरपर्व में कही थीं और बीसवीं सदी के लगभग शेष पर्व में प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार व साहित्यालोचक डॉ० राम विलास शर्मा को कहना पड़ता है कि : "भारतीय समाज के आधुनिक समाज बनने में यहाँ सबसे बड़ी बाधा जाति-प्रथा रही है। सैंकड़ों जातियों, उप जातियों ने अपने अपने संघ बनाए हैं और इनके चौधरी जनतंत्र के मुख्य आधार बन जाते हैं। पढ़े लिखे लोगों में अनपढ़ जनता से कुछ अधिक ही जाति-बिरादरी वाली संकीर्णता मौजूद है।" इतना लिख कर डॉ० शर्मा ने द्विवेदी युग के एक लेखक सत्यशोधक के जुलाई, १९१५ की "सरस्वती" में प्रकाशित लेख "समाजशास्त्र" से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं : "हिन्दुओं में बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह, जाति-पांति के व्यर्थ के झगड़े इत्यादि बहुत-सी कुरीतियाँ प्रचलित हैं। उनको दूर करने के लिए सैंकड़ों सभायें स्थापित हुईं, 'पर इन सभाओं के कार्यकर्त्ताओं ने यह विचार

नहीं किया कि हमारी सारी कुरीतियों की जड़ "वर्ण-व्यवस्था" है ( महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृष्ठ १६५ )। आज भी उक्त स्थिति ज्यों की त्यों बरकरार है। इसे उत्तर भारत में व्याप्त सामाजार्थिक पिछड़ापन, सांस्कृतिक विघटन का परिणाम माना जाए अथवा प्रगतिशील संस्कृति कर्मियों, बुद्धिजीवियों की निष्क्रियता ? यह तो एक दम स्पष्ट है कि भारतेन्दु, दयानन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, निराला, राहुल सांकृत्यायन, राम विलास शर्मा, रांगेय राघव, नागार्जुन, मुक्तिबोध या हरिशंकर परसाई के साहित्य में व्याप्त साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी, साम्प्रदायिकता विरोधी, वर्ण व्यवस्था व जात-पाँत विरोधी भावधारा की जगह धीरे-धीरे एक कलावादी-रूपवादी भावधारा साहित्य और सांस्कृतिक क्षेत्र में घर करने लगी। इसका एक मात्र कारण यही नहीं है कि "जैसे-जैसे इस देश में गाँधीवाद का प्रभाव बढ़ा, वैसे-वैसे बुद्धिवाद, स्वतंत्र और निर्भीक चिंतन, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना मंद पड़ती गई" बल्कि सर्वोपरि कारण 'प्रगतिशील लेखक आंदोलन का बिखरना रहा।' परिणाम स्वरूप सुनियोजित आधुनिकतावाद ने अधिकांश प्रेमचंदोत्तर रचनाकारों को साधारण जनगण के जीवन से काट दिया ; यह साम्राज्यवादी पुतलियों का सम्मोहन' था जिसके वशीभूत, जीवन से सीखने की जगह ये रचनाकार भारी-भरकम किताबों में, आधुनिक जीवन की टोह में, मुँह घुसेड़ने लगे और बिना देश-काल का ध्यान रखे उन किताबों में व्यक्त जीवन और जगत का पुनर्सृजन करने लगे। सामंती अवशेषों, नवधनाढ्यों द्वारा प्रचारित अपसंस्कृति की विकृतियों से विमुख अन्तर्मन के गह्वर में प्रवेश करने को ही रचना-कर्म का श्रेय और प्रेय मान बैठे। साहित्य संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाले देशी-विदेशी प्रतिक्रियावादी ताकतों की यह बहुत बड़ी जीत थी। प्रतिक्रियावादी की इस जीत के कारण ही लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत आज तक मध्यकालीन मानसिकता के कटघरे में बंद है। किसान मजदूरों का दमन करने के लिए वर्णवाद और जातिवाद का जिस तरह उपयोग किया जा रहा है, वह बेमिसाल है।

भारत में विदेशी पूँजी के शोषण की आलोचना भारतेन्दु ने की थी और अपने स्वप्न की समाज रचना की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने सम्पत्ति पर व्यक्तिगत मालिकाना को अस्वीकार किया था।

दयानन्द सरस्वती की सामाजिक सेवाओं की चर्चा करते हुए गाँधीजी ने कहा था ; "स्वामी दयानन्द हमारे लिए अनेक मूल्यवान विचार छोड़ गए

हैं, छुआछूत एवं वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध उनका निष्कम्प संघर्ष उनमें से एक है।" १८७३ ई० में प्रकाशित "हरिश्चन्द्र मैगजीन" के प्रवेशांक में भारतेन्दु ने किन्हीं एम० के० एम० का लेख छापा—"पश्चिमोत्तर प्रांतों के मध्यवर्गीय व्यक्तियों की वर्तमान स्थिति" जिसमें उक्त क्षेत्र के व्यक्तियों की दयनीय स्थिति के लिए उत्साह, एकता और सहानुभूति का अभाव बतलाते हुए लेखक ने कहा है—"जातिभेद उनकी प्रगति का सबसे बड़ा अवरोधक है।" तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय नवजागरण की ये दोनों प्रतिभाएँ वर्ण व जातिगत भेदभाव को भारत देश के लिए, उसकी वास्तविक एकता और सांस्कृतिक विकास के लिए, बहुत बड़ा व्यवधान मानती थीं।

ध्यातव्य तथ्य है कि भारतेन्दु की तुलना में दयानन्द की चिंतन-पद्धति संकरी थी। यद्यपि भारतेन्दु भी पूर्ण जातीय स्वाधीनता की बात कहीं नहीं करते, सुधार की ही बातें कई तरह से करते हैं फिर भी, दयानन्द से उनकी सोच अधिक वैज्ञानिक, तर्कसम्मत और अत्यधिक व्यापक है। दयानन्द सम्पूर्ण प्राचीन संस्कृति तथा वाङ्मय को नकार कर और वेदों में ही वर्तमान और भविष्य की समस्त समस्याओं का समाधान पा लेने की तर्क प्रणाली के कारण भारतीय जनता के एक व्यापक समुदाय की ओर से सशंक दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। इसी संदर्भ में भारतेन्दु से उनकी टक्कर होती है बल्कि इससे भी अधिक दयानन्द का "नाटक" के प्रति नितान्त नकारात्मक तथा निन्दापरक रुख भारतेन्दु को बहुत नागवार गुजरा क्योंकि नाटकों के माध्यम से ही वे अपने विचार समाज के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे तथा बंगाल में इस माध्यम से मिली सफलता को उन्होने काफी करीब से देखा था। इनसे पृथक् एक बड़ा कारण भारतेन्दु का सनातनी संस्कार और वैष्णव होना भी था। यदि दयानन्द वेदों (अतीत) को ऐकान्तिक महत्व प्रदान करते थे तो भारतेन्दु भी वैष्णवता की ऐसी अतिरंजनापूर्ण व्याख्या करते थे जो तर्कसम्मत नहीं थी। "कबीर, नानक और दादू को किसी भी कोण से "वैष्णव", जिस प्रकार के वैष्णव भारतेन्दु थे, सिद्ध करने का प्रयास "हठ" की कोटि में ही आएगा।" संक्षेप में यह कि, पश्चिमी सभ्यता को किस सीमा तक ग्रहण किया जाए और अपने देश की सड़-गल रही रूढ़ियों तथा मानव विरोधी अंधी-विधियों का किस तरह समग्रतः परित्याग कर समाज में नए दृष्टिकोण का प्रचार-प्रसार किया जाए, इनके बीच टक्कर का एक मुद्दा यह भी था। इसे छोड़ने और ग्रहण करने की पद्धति और प्रक्रिया के संदर्भ में मतवैभिन्य के के कारण बंगला नवजागरण के नेताओं का विभाजन हुआ था। दयानन्द और

भारतेन्दु की टकराहट से जो सबसे बड़ी क्षति हुई वह यह कि जिस जनजागरण और जन शिक्षण के लिए इन्होंने प्रस्थान किया था उस ओर से दृष्टि हट गई। अपनी अतिवादी दृष्टि के कारण स्वामी दयानन्द प्रतिक्रियावादी-सनातनी हिन्दुओं के हाथों मारे जाते हैं अर्थात् अपने स्वप्न को यथार्थ में बदलने के प्रयास में शहीद हो जाते हैं ; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सब कुछ करने के बावजूद मध्यकालीन भावबोध के समक्ष लगभग आत्मसमर्पण कर देते हैं। यह निश्चित रूप से सामंती भावबोध की विजय है।

स्वामी दयानन्द और भारतेन हरिश्चन्द्र ने भी स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। भारतेन्दु को इस दिशा में भी प्रेरणा केशवचन्द्र सेन, विद्यासागर तथा द्वारिकानाथ ठाकुर जैसे बंगाल नवजागरण के नेताओं से मिली थी। स्त्री शिक्षा के प्रति उनकी अनुरक्ति का एक प्रमाण यह भी है कि कुमारी मेरी कारपेंटर इस दिशा में जो कार्य कर रही थीं उसमें इन्होंने उनकी पूरी सहायता की ; देश के किसी भी भाग में जो स्त्रियाँ अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होतीं उन्हें भारतेन्दु नाना प्रकार के उपहार भेजा करते। विधवा-विवाह का पक्ष ग्रहण करते हुए भारतेन्दु ने अनेक लेख लिखे तथा "वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति" नाटक में इसका खुले दिन से समर्थन किया। दयानन्द ने कलकत्ता प्रवास के पूर्व ही स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह की वकालत शुरू कर दी थी। "इसके साथ ही जाति प्रथा वर्ण-व्यवस्था पर किया गया उनका आक्रमण उन्हें सहज ही अपने युग का एक महान क्रांतिकारी समाज सुधारक का दर्जा प्रदान कर देता है।" ( आर० के० दासगुप्त, द डेली टेलीग्राफ, ३० अक्तूबर, १९८३ ) और उनके इन्हीं कार्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए रोम्याँ रोलाँ ने कहा था कि—"लूथर फाइटिंग अगेन्स्ट हिज ओन मिसडीड एंड मिसगाइडेड चर्च ऑफ रोम" ( उद्धृत उपरिवत )।

भारतेन्दु बाबू ने यह धारणा भी व्यक्त की थी कि, भारत में अंग्रेजी राज के रहते भारतीयों को अपने कल्याण साधन के सारे प्रयास कर लेने चाहिए। इनकी इस धारणा के पीछे एक लम्बे अर्से से भारत की जनता पर बादशाहों, राजे-रजवाड़ों तथा सामन्तों द्वारा किया गया अकथनीय अत्याचार तथा उनका बेपरवाह शोषण था। इसी सोच के वशीभूत भारतेन्दु को अंग्रेज शासक मुक्तिदाता से प्रतीत हुए और भारतेन्दु ने "जीवौ सदा विक्टोरिया रानी" एवं प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आने पर—"जिमि रघुवीर आये अवध" जैसी पंक्तियाँ लिखी।

यहाँ इस तथ्य को अवश्य ही ध्यान में रखना होगा कि, भारतेन्दु जहाँ एक ओर अंग्रेज शासन का स्वागत भारतीय सामंततंत्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे अंग्रेजी की नई शोषण नीति से भी चिंतित और क्षुब्ध हैं। जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने इस तरह की है : "अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।" जाहिर है भारतेन्दु देश में भारतीयों की शासन व्यवस्था चाहते थे ताकि देश की सम्पत्ति विदेश न जा सके। भारतेन्दु भारत की दुर्दशा के लिए देश-वासियों के बीच व्याप्त फूट, वैमनस्य, धार्मिक रूढ़ियों, वर्ण-जातिगत घृणा भाव को जिम्मेदार मानते थे। वे वर्णभेद की तुलना में आर्थिक पक्ष को अधिक महत्व देते थे। इसका कारण है। वह यह कि भारतेन्दु ने भारतवासियों की दीन-हीन अवस्था के मूल कारणों की गम्भीरतापूर्वक खोज की थी, भले ही वे इसकी तह तक न पहुँच सके हों। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" "अंधेर नगरी चौपट राजा" तथा "विषस्य विषमौषधम्" जैसी रचनाओं में उनकी यह खोज देखी जा सकती है।

दयानन्द ने अपनी समस्त ऐतिहासिक क्रांतिकारी कर्मनीतियों के बावजूद यह घोषणा की थी कि "जाति मनुष्य के कर्म से नीची या ऊँची होती है" (सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ ११३)। वे यह भी आत्मसात न कर पाये कि आर्थिक स्थिति ही मनुष्य की सामाजिक स्थिति का निर्धारण करती है। यह उनके समय की सीमा थी। किन्तु दयानन्द की तरह उनके उत्तराधिकारियों ने भी उनके आन्दोलन का सही मार्ग दर्शन नहीं किया, फलस्वरूप इनके आन्दोलन बिखर गए। इनका वही हश्र हुआ जो सामंती कुचक्र में फँस जाने के कारण प्रगतिशील जन संघर्षों का होता है।

यह बिल्कुल सच है कि भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था वा जाति व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी है कि, किसी को भी यह लग सकता है कि शोषण का मूल कारण जातिवाद ही है। किन्तु किसी भी दशा में मूल बात यही बच रहती है कि, शोषण का अर्थ है—पूँजी द्वारा श्रम का शोषण ; चाहे जिस रणकौशल और कलात्मक चातुरी से इसे झुठलाने और दबाने के प्रयास किए जायें। और इसका उच्छेद एक जाति दूसरी जाति के साथ लड़ा-भिड़ा कर नहीं किया जा सकता। इसका अंत वर्गसंघर्ष को तेज करने, प्रेमचंद, निराला जैसे रचनाकारों की तरह सोद्देश्य लेखन की समग्र प्रतिष्ठा करने से ही संभव है। ●

कल्याणमल लोढ़ा

## हिन्दी : सम्पर्क-भाषा

स्वतंत्र भारत में हिन्दी राष्ट्रभाषा, राजभाषा, सम्पर्क-भाषा के नाम से तो अभिहित है ही; अब उसे माध्यम भाषा भी कहा जाता है। माध्यम भाषा का प्रयोग शिक्षा की माध्यम भाषा के लिए होने लगा है। यहाँ हम सम्पर्क भाषा के रूप में ही हिन्दी पर विचार करें। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम

सम्पर्क-भाषा हिन्दी के पुष्ट और प्रामाणिक उदाहरण दिए थे। अपने निवन्ध हिन्दी भाषा में ये उदाहरण ध्यातव्य हैं। अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने विविध-रूपेण सम्पर्क-भाषा हिन्दी का प्रयोग किया है : कलकत्ते की शोभा का वर्णन करते हुए बंगाली कहता है, 'वेशक, इसमें कुछ शक नहीं कैलकटा देखने का जगह है......आप वहाँ एक वार जाना माँगे, वहाँ जाकर थोड़ा सुबुर करो, देखो वहुत लोग जाता तो आप घर में पड़ा-पड़ा क्यों सड़ता।' यह उदाहरण जितना सटीक है, उतना ही प्रामाणिक भी।

सम्पर्क-भाषा इतालियन के 'लिंग्वा-फ्रांका' का ही रूपान्तर है, जो अंग्रेजी में प्रचलित और लोकप्रिय हुआ। इसी के लिए अब 'लिंक लैंग्वेज' और हिन्दी में सम्पर्क-भाषा का प्रयोग हो रहा है। सम्पर्क-भाषा और राष्ट्र या राजभाषा के पारस्परिक सम्वन्ध पर विचार करने के पूर्व हम लिंग्वा-फ्रांका के प्रचलन और प्रयोग को देखें। लिंग्वा-फ्रांका इतालवी की भ्रष्ट भाषा थी, जिसका प्रयोग भूमध्य सागर के तट पर या दक्षिण फ्रांस में होता था। लिंग्वा फ्रांका 'द फ्रांक्स लैंग्वेज मिक्स्ड विद द इतालियन' थी। (कोवम व्यूहर) वह एक प्रकार से विभिन्न भाषा-भाषियों के वीच परस्पर आदान-प्रदान की संप्रेषणीयता का माध्यम होकर सहायक या पूरक भाषा के रूप में समझौता की भाषा होती थी। इसका उदाहरण अफ्रीका की स्वाहली और हौसा भाषाएँ हैं। ब्रिटेनिया विश्वकोष ने हिन्दुस्तानी को भारत की लिंग्वा-फ्रांका' कहा है। लिंग्वा-फ्रांका या लिंक लैंग्वेज में दो या दो से अधिक भाषाओं का मिश्रित रूप होता है, जिसमें विशिष्ट शब्दावली प्रयुक्त होती है। सवीर भाषा इसका प्रमाण है, जिसमें इतालवी, फ्रेंच, अरवी आदि का मिश्रित रूप उपलब्ध है। वहुभाषी देश में लिंग्वा-फ्रांका का प्रचलन एक दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि वहाँ भाषा की वैषम्य अधिक होता है। यहाँ यह स्मरण स्मरण रखना चाहिए कि सम्पर्क-भाषा और पिडगिन अथवा क्रियोल भाषा में प्रचुर अन्तर है। पिडगिन भाषा का प्रयोग अशिक्षित समाज में होता है ; वह प्रायः मौखिक संप्रेषण की ही भाषा होती है। क्रियोल में मातृ वोली में विभिन्न भाषाओं के प्रचुर प्रयोग और व्यवहार से नयी भाषा बन जाती है। (क्रियोल योरोप व अफ्रीका के वर्णसंकर व्यक्तियों को भी कहा जाता है) सम्पर्क-भाषा की दृष्टि से हिन्दी न तो क्रियोल है और न पिडगिन। वह भारत की विभिन्न भाषाओं के साथ प्रत्येक हिन्दीतर प्रान्त में सम्पर्क का सशक्त माध्यम होकर हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का सार्थवाह है। गिलक्राइस्ट के पूर्व हेलहेड ने हिन्दी के दो रूपों का वर्णन किया है : शुद्ध हिन्दुस्तानी और

मिश्रित हिन्दुस्तानी। मेरे मत में मिश्रित हिन्दुस्तानी से उसका तात्पर्य संपर्क-भाषा हिन्दी से ही था। सम्पर्क-भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग और प्रचलन पूर्व मध्य काल से ही रहा है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे। खुसरो का प्रसिद्ध कथन है—

फारसी बोल आईना, तुर्की ढूंढ़ी पाईना
हिन्दी बोली आरसी आए, खुशरो को कोई बताए।

पन्द्रहवीं शताब्दी में शाह मीराजी ने तो घोषणा ही कर दी—

ये अरबी बोल न जाने
न फारसी पिछाने
ये देखत हिन्दी बोल।
पुर माइने है नप तोल।

प्रारम्भ से हिन्दी देश की सम्पर्क-भाषा, ( जिसे मैं मानस-भाषा कहना अधिक उचित समझता हूँ ) रही है। मुन्शी देवी प्रसाद मुंसिफ का मत है कि "खड़ी बोली विशेष करके मुसलमान या रमता राम जोगी और साधु-संत राजपूताना में लाए हैं, जो प्रायः सभी जगह समझी जाती है। यही हिन्दी है और बहुत वर्षों पहले यहाँ आयी है।" ( राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज )।

दक्षिण में इसी सम्पर्क-भाषा को 'गोसायी भाषा' (गोस्वामियों की भाषा) कहा जाता था। सन् १६१५ में हिन्दी की सम्पर्क-भाषा की वास्तविक स्थिति का वर्णन तत्कालीन यात्री एडवर्ड टेरी ने भी किया है। उसकी सम्मति में "हिन्दोस्तानी भारत की सम्पर्क-भाषा है, जिस पर अरबी, फ़ारसी का बहुत प्रभाव है" )।

( इसी प्रकार दीवान ज़ादे की भूमिका में शाह आतम सन् १७५० ) लिखते हैं कि "मैंने तहरीर के लिए जो ज़बान इख्तियार की है, जो हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान है, यानी हिन्दवी जिसे भाखा कहते हैं, क्योंकि इसे आम लोग बखूबी समझते हैं और बड़े तबके के लोग भी पसंद करते हैं ) डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी : उद्भव, विकास और रूप ) ये उद्धरण इस सत्य को उद्घाटित करते हैं कि 'हिन्दुस्तान के तमाम सूबों की ज़बान' हिन्दी थी और वही सब स्थानों पर समझी जाती थी, या यों कहा जाय कि वही सम्पर्क-भाषा' थी।

अब हमें इस पर भी विचार कर लेना चाहिए कि सम्पर्क-भाषा का राज-भाषा और राष्ट्र-भाषा से क्या सम्बन्ध है या हो सकता है। एक तथ्य और

स्पष्ट कर दूँ। यह भ्रांत धारणा है कि सम्पर्क-भाषा अपने मिश्रत या भ्रष्ट रूप में कभी मानक भाषा नहीं हो सकती। मलय भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में सम्पर्क-भाषा थी पर वह धीरे-धीरे मानक भाषा बनती गयी और वही अब इंडोनेशिया की राष्ट्रभाषा भी है। यह सही है कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा सदैव मानक भाषाएँ होती हैं। सम्पर्क-भाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग भिन्न है। यों तो मानक भाषा में भी स्थानीय शब्दों का प्रयोग आज कल बहुतायत से होता है। सम्पर्क-भाषा का भौगोलिक क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। कुछ विद्वानों ने सम्पर्क-भाषा के भी दो रूप स्वीकार किए हैं (१) राजकीय सम्पर्क भाषा (२) लोक सम्पर्क-भाषा। ये भेद तर्क और विवेक संगत नहीं। राजाभाषा का व्यवहृत रूप प्रशासकीय कार्यों में होता है और सम्पर्क-भाषा का जन साधारण के बीच-यों बौद्धिक वर्ग भी सम्पर्क-भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग करते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्पर्क-भाषा के रूप में हिन्दी विशिष्ट महत्त्व रखती है। हिन्दीतर प्रदेशों के बीच भी यह पारस्परिक सम्पर्क और प्रेषणीयता का माध्यम है। एक बंगाली और एक तमिल हिन्दी में ही ( यदि वे अंग्रेजी नहीं जानते या जानते हैं तब भी ) वार्तालाप करेंगे। इस प्रकार सम्पर्क-भाषा हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति का पुष्ट और सार्थक माध्यम है और इस नाते वह हमारे भाषात्मक या रागात्मक ऐक्य का भी। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि आज भी हम इस सत्य को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं जब कि हमारी सांस्कृति, ऐतिहासिक और भाषिक परम्परा इसे अकाट्य प्रमाणित कर रही है। इसका सारा अपश्रेय संकीर्ण दृष्टिवाले राजनीतिज्ञों को है। इसका ही लाभ उठाकार आज हिन्दी के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय अभिसंधि भी चल रही है, जिसमें कभी तो उसे वेबल कहा जाता है और कभी उसे गौण महत्त्व का समझा जाता है। रिसले ने तो हिन्दी को गण्य भाषा समझ कर—( लिंग्वा फ्रांका आव हिन्दूज ) उस पर कई आक्षेप किये पर इससे हिन्दी का राजभाषा के रूप का कुछ भी नहीं बिगड़ता। जो हिन्दी का राजभाषा के रूप में विरोध करते हैं, वे ही उसे सम्पर्क-भाषा के रूप में स्वीकार कर उसकी शरण लेते हैं। हिन्दी ने कई तूफान झेले, कई आपदाएँ सहीं कई आंदोलन देखे, पर उसकी गति सदैव प्रवाहमान रही। मैं तो हिन्दी को इस देश की मानस-भाषा समझता हूँ और न जाने क्यों उसके भेद—राजाभाषा, सम्पर्क-भाषा, माध्यम भाषा अनपेक्षित लगते हैं। हमारी राष्ट्रीय परम्परा इसका प्रमाण है। ●

## केसरीकांत शर्मा 'केसरी'

### 'महा-विद्रोही रणक्लान्त' काज़ी नज़रुल इस्लाम

'आमि दुर्वार। आमि भेंगे करि सब चूरमार। आमि अनियम उच्छृङ्खल, आमि दले जाई जत। बंधोन। जतो नियम-कानून शृंखला'। अर्थात् मैं दुर्वार हूँ, मुझे कोई रोक नहीं सकता। मैं सबको चकनाचूर करता हूँ। मैं अनियम हूँ, उच्छृंखल हूँ। जितने भी बंधन, नियम-कानून तथा शृंखलाएँ हैं, मैं उन्हें रौंदकर अग्रसर होता हूँ।

विद्रोही कवि काज़ी नज़रुल इस्लाम की उपर्युक्त कविता-पंक्तियाँ उनके विद्रोही-तेवर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। विद्रोह अथवा क्रांति से सम्बन्धित उनके विचार चीनी क्रांति के नायक माओ त्से तुङ्ग के विचारों से मेल खाते हैं, जिनका कथन है : "क्रांति ऐसी कोई नफ़ीस, शान्त और शिष्ट, नम्र, दयालु, सुशील, संयत, और उदार चीज़ नहीं हो सकती। क्रांति एक विद्रोह है, एक हिंसात्मक कार्यवाही है, जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का तख्ता उलट देता है।"

माईकेल मधुसूदन दत्त ने बंगला-साहित्य की परम्परागत काव्य-प्रवृत्ति और शिल्प के विरुद्ध विद्रोह किया। धार्मिकता और देवी-स्तुति-गान से युक्त बंगला साहित्य में मानव-महिमा को स्थापित कर एक युगान्तकारी शुरुआत उन्होंने की। 'मेघनाद वध' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। 'पयार' व 'त्रिपदी' की जंज़ीरों से जकड़ी कविता को सर्वप्रथम छंद मुक्त कर 'स्वच्छन्द-छंद' का उन्होंने आविष्कार किया। उनकी परम्परा को नज़रुल ने विकसित किया। किन्तु नज़रुल का विद्रोह कथ्य और शिल्प दोनों ही अर्थों में उनसे भिन्न था।

नज़रुल का साहित्य राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम और असमाप्त जनवादी क्रांति का साहित्य है, शोषित-उत्पीड़ित किसानों एवं मजदूरों का साहित्य है, जो विदेशी दासता, गुलामी के खिलाफ़ संघर्ष करते हैं—साम्राज्यवादियों एवं उनके अनुचरों-महाजनों-सेठों, जागीरदारों और सामन्तवाद से टक्कर लेते हैं। नज़रुल का साहित्य मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का विरोधी है। यह शोषण पर आधारित अमानवीय व्यवस्था के प्रति विरोध और विद्रोह का साहित्य है।

'महा-विद्रोही रणक्लान्त। आमि सेइदिन हबो शान्त। जबे उत्पीड़ितेर क्रन्दन-रोल आकाशे-बताशे ध्वनिबेना। अत्याचारीर खड्ग-कृपाण भीम रणभूमे रणिबेना। विद्रोही रणक्लान्त। आमि सेईदिन हबो शान्त।' अर्थात् मैं महा-विद्रोही रणक्लान्त होकर उसी दिन शान्त होऊँगा, जिसदिन न तो उत्पीड़ित की क्रन्दन-ध्वनि आकाश में गूँजेगी और न अत्याचारी का खड्ग तथा कृपाण भयंकर होकर रणभूमि में दिखाई देगा। मैं विद्रोही रणक्लान्त उसी दिन होऊँगा।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब बंगला साहित्य में नज़रुल का प्रादुर्भाव हुआ, भारत पराधीनता की ग्लानि और पीड़ा से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। एक ओर सुधारवादी-समझौता-परस्त नेता कांग्रेस के झण्डे के नीचे निहत्थी गरीब जनता की स्वतःस्फूर्त आन्दोलनकारी-मुक्तिकामी प्रचेष्टाओं को सीमाबद्ध करके अंग्रेज़ कसाइयों की तलवार को सुर्ख बना रहे थे, तो वहीं दूसरी तरफ क्रांतिकारियों के छोटे-बड़े सशस्त्र दल एवं संगठन उनसे आज़ादी छीनने के लिए लोहे से लोहा बजा रहे थे, मातृभूमि की आज़ादी के लिए कुर्बानी दे रहे थे। काज़ी नज़रुल उन क्रांतिकारियों से प्रभावित ही नहीं, स्वयं को उस आन्दोलन का एक सिपाही भी मानते थे। काव्य-सर्जना से ही कवि सन्तुष्ट नहीं था। व्यवस्था के 'लौह-कपाट' को चूरमार करने के लिए 'गद्य का कड़ा हथौड़ा' चलाने की भी उसको आवश्यकता महसूस हुई। फलतः १२ अगस्त, १९२२ से उन्होंने अर्द्ध-साप्ताहिक 'धूमकेतु' निकालने का निश्चय किया। 'धूमकेतु' हुकूमत के आक्रोश का शिकार हुआ। 'राज-द्रोह' के नाम पर नज़रुल को एक साल की कड़ी सजा भी भुगतनी पड़ी। उसके एक सम्पादकीय में उन्होंने—'स्वराज' ( जो हकीकत में एक किस्म की भीख थी, जो मिस्टर गांधी की चाह थी। ) की जगह 'पूर्ण स्वतंत्रता' की बात रखी। उन्होंने यह स्पष्ट बतलाया कि यह ( पूर्ण स्वतंत्रता ) सत्याग्रह, पिकेटिंग, चर्खा, अनशन, सहयोग और समझौते के दिवालिये गुलामीपरस्त सिद्धान्त से

नसीब नहीं होगी। यह तो 'सभी नियमों, अधिनियमों, प्रतिबन्धों और बन्धनों के खिलाफ बगावत' से ही संभव होगी। ऐसी नज़रुल की मान्यता थी। यही क्रांतिकारियों का सिद्धान्त था, अमर शहीद भगतसिंह जैसे भारत माँ के लाड़लों की कामना थी। उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ़ने के बाद भी नज़रुल को गांधी-वादी बतलाने वाले बैठे-ठाले 'विद्वानों' की आँखें खुल जानी चाहिए। उनको 'धूमकेतु' के वे सम्पादकीय, टिप्पणियाँ और उद्‌घोषणाएँ पढ़नी चाहिए जो 'दुर्दिनेर यात्री' (१९३८) तथा 'रुद्रमंगल' (१९४१) आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं।

चण्डीदास ने कहा था—'सवार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाइ।' मनुष्य के प्रति असीम सहानुभूति और आस्था नज़रुल की विशेषता थी—'मनुष्य से महान कुछ नहीं है।' 'मनुष्य' से उनका मतलब, शोषित-उत्पीड़ित जनता से रहा है। 'कला कला के लिये नहीं', 'कला जीवन के लिये।' कथनी और करनी दोनों में नज़रुल ऐसा मानते थे। रवीन्द्रनाथ की इच्छा के विपरीत उन्होंने साहित्य को जीवन और राजनीति से जोड़ा। सूक्ष्म और पैनी दृष्टि के वे धनी थे। वर्ग-संघर्ष की चेतना के प्रकाशन में नज़रुल एक अग्र-गामी कवि हैं। भाववादी ठाकुर मानसिकता का अमरवेली प्रभाव उनकी काव्य-यात्रा में एक रुकावट थी। उन्होंने अपने चिन्तन और काव्य को नया मोड़ दिया। उनकी कविता में सामाजिक यथार्थ का स्वर सर्वप्रथम 'विद्रोही' कविता में प्रस्फुटित हुआ। यह एक बहुत बड़ा आविष्कार, एक उपलब्धि थी। कवि को अल्लादीन का चिराग मिल गया। इस कविता के प्रकाशन के साथ-साथ कवि के नाम के साथ 'विद्रोही' शब्द जुड़ गया। मानव-क्रन्दन से विचलित होकर कवि ने स्वयं को 'महा-विद्रोही रणक्लान्त' कहा। किंवदन्ती है कि यह युगान्तकारी कविता लिखने के बाद नज़रुल रवीन्द्र के पास बड़े उत्साह से गये और कहा—"गुरुदेव, आप बाहर आइए, मैं आपका खून करूँगा।" ठाकुर-कवि ने कविता सुनने के बाद स्वीकार किया और कहा—"हाँ, काज़ी, सच तुम मेरा ख़ून करोगे।" अंग्रेज कवि शैली और बायरन के साथ विद्रोही कवि नज़रुल की तुलना ऐसे ही नहीं की जाती है। यद्यपि उस समय ईश्वर गुप्त, रंगलाल, रजनीकान्त, द्विजेन्द्र पाल और रवीन्द्रनाथ जैसे कवि मौजूद थे, मगर इनमें नज़रुल को छोड़कर कोई भी विद्रोही कवि नहीं था। 'अग्निवीणा', 'विशेर बांशी', 'भांगारगान', 'फनिमनसा', 'सर्वहारा', 'प्रलयशिखा', 'नूतन चांद', 'रक्ताम्बरधारिणी माँ' एवं 'कोखानी' जैसी कवि-

तायें पराधीनता की वेदना के विरुद्ध कवि के विद्रोही स्वरूप को उजागर करती हैं।

'बिशेरबांशी' की 'बन्दी वन्दना' में उत्पीड़ित बन्दियों के प्रति कवि की ओजस्वी वाणी को देखें :

'वे पैरों तले कुचलते चले गये मृत्यु-शंका
आह्वान करते चले गये शृंखला की झंकार से
स्वाधीनता का गगनभेदी डंका वज उठा
विजय-संगीत गाते हुए चले जाते हैं बन्दी
कांप रहा है कारागार, उनके संगीत से—
उतावले कोलाहल में।'

उसी कारागार के 'लौह-कपाट' को तोड़ फेंकने के लिए विद्रोही कवि का युवकों को आह्वान : 'किसके हैं ये लौह कपाट। तोड़ फेंको, करो रे इसे चौपट। रक्त का जमावट। जंजीर-पूजा की पाषाण वेदी। अरे हो तरुण इन्सान। बजाओ अपने प्रलय तान/ध्वंस निशान। चहार दिवारी को चूर्ण कर। उड़ाओ अपनी विजय पताका! [ भांगार गान ]

× × × ×

'ये बेड़ियाँ जो हमने पहन रखी हैं। एक छल है—महज़ एक दिखावा, इन्हें पहनकर/अत्याचारियों को हम मुश्किल में डाल देंगे।'

× × × ×

निम्न कविता-पंक्तियों में दुःशासन प्रतीक के माध्यम से कवि ने पराधीन भारत के शोषक-शासक 'भाग्यविधाता' प्रभुवर्ग के प्रति संकेत किया है। उसे नेस्तनाबूद कर डालने के लिए युवकों से अपील की है। कवि की युयुत्सु मनः स्थिति का प्रतिविम्ब यूँ है :

'दुःशासन का ख़ून चाहिए। चाहिए ख़ून, रक्त चाहिए। सभी जगह यही एक नारा—दुःशासन का रक्त चाहिए! दुःशासन का रक्त चाहिए! अत्याचारी है यह दुःशासन। उसका ख़ून चाहिए, चाहिए शासन। घुटनों के बल उसकी छाती पर बैठ, गर्दन मरोड़कर उसका ख़ून पीना चाहता हूँ। आओ भीम, आओ खूँखार वीर, आकर आकण्ठ रक्तपान करो।'

कवि ने स्पष्ट शब्दों में उद्‌घोषणा की थी कि जब तक मानवता उत्पीड़ित व व्यथित रहेगी, कवि की लेखनी अविराम गति से विद्रोह के पथ पर अग्रसर होती रहेगी। 'शेष सौगात' की 'चिर विद्रोही' कविता में भी कवि ने अपने

इस संकल्प पर प्रकाश डाला है। 'फरियाद' में वेदनाकातर हृदय विद्रोह करता है। 'कैफ़ियत', 'कुलि मजुर', 'मानुष', 'श्रमिक मजुर' 'उठरे चाषी' एवं 'ईंदेर चांद' में वही विद्रोही स्वर मुखर है।

नज़रुल बन्द कमरे में कविता का सृजन करने वाले शौकिया कवि नहीं थे। वे श्रमिक हड़ताल और आन्दोलन में सक्रिय हिस्सा लेते थे। जेनसन निकलसन, हुकुमचंद जूट मिल, टीटागढ़ पेपर मिल, नदिया जूट मिल आदि में आयोजित हड़ताल के वक्त कारखाने के गेट पर वे मजदूरों की एकता एवं संग्राम के समर्थन में हिन्दी-बंगला मिश्रित काव्य-पाठ किया करते थे, मजदूरों को आन्दोलित करते रहते थे।

तितिमिर का विद्रोह, संथाली किसान-विद्रोह, आदिवासी-किसान-विद्रोह आदि के ऐतिहासिक वृत्तांत से कवि परिचित था। ज़मींदारी-जागीरदारी प्रथा के विरोध में किसान-जागरण के गीत उन्होंने लिखे—

'जागरे किसान! सब तो गया अब किसका भय?
क्षुधा के बल पर ही करेंगे सुधा के जगत पर जय।'

नज़रुल किसानों में वर्ग-संघर्ष की चेतना जगाने वाले बंगला के प्रथम कवि हैं। 'लांगल' साप्ताहिक का प्रकाशन इसी उद्देश्य से उन्होंने किया।

कोयला-खदानों के श्रमिकों के मर्मान्तक जीवन के पास दरिद्रता से पीड़ित किसानों को उन्होंने खुद अपनी आँखों देखा था। उनकी मुक्ति के लिए साम्यवादी गीत गाने की उन्होंने ज़रूरत समझी—

'गाई साम्येर गान,
मानुषेर चेये बड़ो किछु नई, नहीं किछु महीयान।'

मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा, पंडा, मौलवी और पादरी आदि के धार्मिक आडम्बर मनुष्य को मनुष्य से घृणा करना सिखाते हैं—शोषक-शासक-व्यवस्था की हिफ़ाजत करते हैं। ऐसी नज़रुल की मान्यता थी :

'मानूषेर घृणा करि/ओ कारा कोरान, वेद, बाईबिल चुम्बिछे मरि-मरि!'

× × × ×

'आमि विद्रोही भृगु। आमि भगवान् बुके एँके देबो पदचिह्न। आमि सृष्टि-सूदन। शोक-ताप हाना खेयालि विधिर। वक्खो कोरिब छिन्न।' अर्थात् मैं विद्रोही भृगु हूँ। मैं ईश्वर के सीने पर अपने चरण-चिह्न अंकित कर दूँगा। मैं संहारक हूँ। शोक-ताप आदि के प्रति उदासीन विधाता के सीने को फाड़ डालूँगा।'

धर्मान्धता, ईश्वर के भय से मुक्ति की अनिवार्यता को कवि ने समझा था—

'शिहिरि उठानो, शास्त्र विधार करो नाक वीर भय—
ताहारा खुदार खुद 'प्राईवेट सेक्रेटरी तो नय।'

शोषक-व्यवस्था में नारी भोग की वस्तु है। वह पराधीन है, गुलाम है। उसके लिए मुक्ति और समान अधिकारों की माँग नज़रुल करते हैं। 'वेश्या-प्रथा' एक सामाजिक कोढ़ है। यह समाजवादी व्यवस्था में ही खत्म हो सकती है'। वारांगना' नामक कविता में नज़रुल ने वेश्या के प्रति सहानुभूति प्रकट की—

'जतो पापी-तापी सब मोर बोन, सब मोर भाई।'

कवि को रूसी बोलशेविक-क्रांति की जानकारी थी। यह उसका सपना था। भारत में भी वह ऐसा चाहता था। श्रमिक-वर्ग की अन्तरराष्ट्रीयता से वह प्रभावित था। 'दुनिया के मजदूरो एक हो!' से अनुप्राणित होकर उसने कविता लिखी। यहाँ तक कि अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के महान गीत—'इन्टरनेशनल' का बंगला अनुवाद सर्व प्रथम उसी ने किया, जो अप्रैल १९२७ के 'जनवाणी' में प्रकाशित हुआ। उस गीत की उन्होने स्वरलिपि भी तैयार की थी। शोषक-वर्ग को कँपाने वाले गीत उन्होंने लिखे—

'शत शताब्दी मांगनि ये हाड़, से हाड़े उठे गान,
जय निपिड़ित जनगन जाय, जय नव उत्थान।'

'नवम्बर-विप्लव' का अभिनन्दन करते हुए उन्होंने लिखा—'तोरा सब जय ध्वनि कर। तोरा सब जय ध्वनि कर। ऐ नूतनेर केतन उड़े। काल बैशाखीरेर झाड़!' (कुमिल्ला, १९२२ में रचित 'प्रलयोल्लास' कविता से)

'व्याख्यार दान', जिसका शीर्षक बाद में 'मुक्ति सेवक सैन्यदल' कर दिया गया था, एक क्रांतिकारी कहानी है। इसमें भी 'नवम्बर-क्रांति' की जानकारी मिलती है। इसका एक पात्र-सैफुल्ल हक लाल-फौज में एक सिपाही है, जो रूसी-क्रांति में हिस्सा लेता है। बंगला साहित्य में 'लालफौज' की यह प्रथम उपस्थिति है।

इस तरह हम देखते हैं कि शिल्प और सौन्दर्य से भरपूर नज़रुल इस्लाम एक महान् विद्रोही कवि हैं! रवीन्द्र नाथ ठाकुर से सोच और व्यवहार दोनों में अलग। अपने आस-पास के सामाजिक यथार्थ और मानव-दशा को उन्होंने चित्रित किया जो इनके लेखन की खास विशेषता है। उत्कटता और ओज इनकी खासियत है। फारसी-अरबी तथा संस्कृत-बंगला के शब्दों का इन्होंने अपने सर्जनात्मक लेखन में सफल सम्मिश्रण किया। इनकी कविता गुण और

मात्रा दोनों ही दृष्टियों से सम्पन्न है, संगीत, धुन, लय, छंद तथा प्रगतिशील विचारों से समृद्ध है। लोक धुनों, लोक संगीत, लोकगीत आदि पर इनका ज़बरदस्त अधिकार रहा। रवीन्द्र संगीत के मुकाबिले में इन्होंने श्यामा संगीत एवं नज़रुल संगीत का आविष्कार किया जो पश्चिम बंगाल और बंगलादेश दोनों में लोकप्रिय है। बंगला संगीत में गजल को शामिल करने वाले आप पहले शिल्पी हैं। आपने रवीन्द्रनाथ से भी एक हज़ार ज्यादा गीत लिखे हैं। 'निर्झरनी', 'संध्यामालती', 'वनकुंजल' दोलन तथा 'चम्पा' आदि नयी-नयी धुनों का आपने आविष्कार किया।

'मुस्लिम भारत', 'सौगात', 'उपासना', 'बिजली', 'नारायण', 'भारती' आदि प्रमुख पत्रों में नज़रुल की रचनायें छपती रहीं। उन्होंने 'नवयुग' 'धूमकेतु' एवं 'लांगल' आदि पत्रों का संपादन भी किया।

नज़रुल ने कवितायें, गीत, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि गद्य-पद्य की विधाओं में जमकर लिखा। व्यंग्य-गीत भी लिखे, जिनमें 'डोमीनियन स्थिति', 'संधि' एवं 'दे गारूर गा धुइए' आदि प्रशंसित हुए। बच्चों के लिए भी इन्होंने कविताएं और गीत लिखे। हाफ़िज़ और खैयाम की रुबाइयों का पद्य-बद्ध अनुवाद भी किया। इनके गीतों के सैकड़ों रिकार्ड मिलते हैं। रूसी एवं अन्य कुछेक विदेशी भाषाओं में इनकी चुनी हुयी रचनाओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी अभी इनका ढेर सारा लेखन असंगृहीत और अप्रकाशित है।

हमेशा अभाव, कष्ट और तकलीफ़ों में रहते हुए भी नज़रुल अपने दुःख को दोस्तों तक से छिपाते रहे। मद्यपान की बात छोड़िये, इन्होंने कभी धूम्रपान तक नहीं किया। ये इनके व्यक्तित्व की खास विशेतायें हैं, जो आज के साहित्यकारों में खोजने पर भी प्रायः नहीं मिलतीं।

जब तक मनुष्य का शोषण, उत्पीड़न, लांछना, अवमानना, धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास, सड़ी-गली रूढ़ियाँ और परम्परायें, नारी जाति पर अत्याचार, सामाजिक असमानता और अन्याय रहेगा, तब तक महा-विद्रोही रणक्लान्त—काज़ी नज़रुल इस्लाम की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

'विप्लव आनि विद्रोह करि,
नेचे - नेचे गोंफे दिई ताव।'

अर्थात् मैं विद्रोह को बुलाता हूँ, विद्रोह करता हूँ और नाच-नाच कर मूंछों पर ताव देता हूँ। ●

# विमल वर्मा

## रवीन्द्रनाथ की फ़ासीवाद विरोधी भूमिका

विश्व मानवता को फासीवाद को पराजित किये हुये करीव ४० वर्ष गुज़र गये। लेकिन दुर्भाग्यवश फासीवाद विभिन्न देशों में विभिन्न रूप धारण कर यह फिर अपना सिर उठा रहा है। अमरीकी साम्राज्यवाद और उसकी सहयोगी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हिटलर और मुसोलिनी के पद-चिह्नों पर चलने का दुःसाहस कर रही हैं। विश्व-इतिहास की इस संकटपूर्ण घड़ी में हिरोशिमा की विभीषिका का स्मरण कर विश्व-शान्ति और युद्ध-विरोधी अभियान को और तेज़ करने का संकल्प दोहराया जा रहा है। हमारे लिये यह अनिवार्य हो उठा है कि हम अपने साम्राज्यवाद विरोधी और फासीवाद विरोधी परम्परा को और सुदृढ़ वनायें।

भारतीय राष्ट्रीयता प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीयता के भावों से ओत प्रोत रही है। नेपल्सका स्वतन्त्रता आन्दोलन मेटरनिख द्वारा १८२१ में कुचल दिया गया तो भारत की राष्ट्रीयता के जनक राजा राममोहन राय ने कहा था "अन्ततः स्वतन्त्रता के और निरंकुशता के मित्र कभी सफल नहीं हो पायेंगे।" हमारे नेताओं और भारतीय मनीषियों ने साम्राज्यवादी आक्रमण और उनके कुचक्रों का हमेशा सक्रिय विरोध किया है। आज विश्व-शान्ति के पक्ष में फ़ासिज़्म विरोधी, साम्राज्यवादी परम्परा के विकास की कड़ी को और सुदृढ़ बनाने के लिये रवीन्द्रनाथ टैगोर की फासीवाद विरोधी भूमिका पर गौर करना अत्यन्त आवश्यक हो उठा है। भारत में युद्धविरोधी आन्दोलन के इतिहास निर्माताओं में रवीन्द्रनाथ अग्रणी रहे हैं। अपने सम्पूर्ण जीवन में वह केवल वक्तव्यों द्वारा ही नहीं अपनी रचनात्मक भूमिका अर्थात् लेख, निवन्ध, कविता, छड़ा, चित्रों और पत्रों द्वारा उन्होंने इस आन्दोलन को जीवन्त वनाये रखा। सवको यह स्मरण होगा कि जव इटली ने अवीसीनिया पर आक्रमण किया था तो रवीन्द्रनाथ अत्यन्त क्षुब्ध और उत्तेजित हो उठे थे। उन्होंने १९३२ में अफ्रीका नामक कविता लिखी थी जो कालजयी रचना हो गयी। उस कविता

को अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्होंने इंग्लैंड में अमिय चक्रवर्ती के पास भेज दिया था। अपने चरम आर्थिक संकट के दौरान जापान के पूंजीवादी वर्ग के एक प्रभावशाली हिस्से ने सामरिक फ़ासिज़्म की ओर अभियान किया। जापानी बैंकरों और उद्योगपतियों ने मंचूरिया में पूंजी विस्तार किया था। उन्होंने सेना के साथ सांठ गांठ की। यह गुट बलपूर्वक चीन पर विजय करके अपना आर्थिक संकट मिटाना चाहता था। जुलाई १९३७ में इसने चीन पर आक्रमण किया। उधर स्पेन में क्रान्ति की विजय के बाद प्रतिक्रियावादी राजसत्ता पर कब्जा करने का प्रयास करने लगे। जनरल फ्रेंको तथा अन्य सेनापतियों के नेतृत्व में फ़ासिस्टों ने अपना आक्रमण स्पेनिश मोरक्को से शुरू किया। इटली और जर्मनी की फ़ासिस्ट सरकारें फ्रेंको की मदद कर रही थीं। दुनिया भर के जनतंत्रवादी स्पेन के गणतंत्र की मदद के लिये आगे आये। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने सेकेण्ड इन्टरनेशल से फ़ासिज़्म के खिलाफ़ स्पेन के गणतंत्र की सहायता के लिये संयुक्त मोर्चे की अपील की। करीब दुनिया भर के जनतंत्र प्रेमी स्पेन के जनतंत्रवादियों के साथ फ़ासिज़्म के खिलाफ़ लड़ने के लिये मोर्चे पर आये। उनको लेकर अन्तर्राष्ट्रीय बिग्रेड की स्थापना हुई। लीग अगेन्स्ट फ़ासिज़्म एण्ड वार' की भारतीय शाखा भी गठित की गयी। रवीन्द्रनाथ इस कमेटी के अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उस समय वामपंथियों का ज़ोरदार असर था। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट इत्यादि वामपन्थी दल, लीग अगेन्स्ट फ़ासिज़्म एण्ड वार, प्रगतिशील लेखक संघ और सिविल लिबर्टीज़ यूनियन इत्यादि जन संगठनों ने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा चीन और स्पेन में फ़ासिस्ट बर्बरता के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन शुरू किया। स्पेन और चीन की सहायता के लिये अर्थ संग्रह भी किया। इस व्यापक जन आन्दोलन में कविगुरू रवीन्द्रनाथ सम्पूर्ण रूप से समर्पित थे। रवीन्द्रनाथ ने दो कवितायें भी लिखीं। १५ दिसम्बर को नानकिंग का पतन हुआ। मार्शल चूते ने जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखा। वह पत्र समाचार पत्रों में छपा। इस घटना से मर्माहत होकर कविगुरू क्षुब्ध और आन्दोलित हो उठे। उन्होंने कविता लिखी। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

"नागिनीरा चारिदिके फेलिते छे विषाक्त निःश्वास
शान्तिर ललित वानी सोनाइवे व्यर्थ परिहास
विदाय नेवार आगे ताइ
डाक दिये जाइ

दानवेर साथे जारा संग्रामेर तरे
प्रस्तुत होते छे घरे घरे"

'प्रान्तिक' नामक पत्रिका के १७वें अंक में रवीन्द्रनाथ की एक अद्भुत कविता प्रकाशित हुई।

"महाकाल सिंहासने
समासीन विचारक, शक्ति दाउ, शक्ति दाउ मोरे,
कन्ठे मोर आनो वज्र वाणी, शिशुघाती नारीघाती
कुत्सित वीभत्सा परे धिक्कार हानिते पारी जेनो
नित्यकाल रवे स्पन्दित लज्जातुर ऐतिज्ज्यरे
हृत्स्पन्दने, रुद्धकण्ठ भयार्त औ शृङ्खलित युग जवे
निःशब्दे प्रच्छन्न हवे आपन चितार तले"

यह कविता बंगाल में आज भी हर व्यक्ति की ज़बान से रोज़ सुनाई पड़ती है।

पेरिस में अन्तर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन सम्पन्न हुआ। १९२६ में ब्रेसेल्स में विश्वशान्ति सम्मेलन हुआ। जवाहरलालजी भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के प्रतिनिधि का काम कर रहे थे। उस शान्ति महायज्ञ में रोमा-रोलाँ, हेनरीबार बूज, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानुज चट्टोपाध्याय नन्दलाल बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय, जवाहरलाल नेहरू इत्यादि के हस्ताक्षर से एक घोषणापत्र ब्रेसेल्स भेजा गया। उसमें अंग्रेजों द्वारा लेखकों और पत्रकारों के दमन की निन्दा की गई, सेंसर और कस्टम वालों की भी निन्दा हुई और कहा गया कि "महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मँडरा रही है। फ़ासिस्ट तानाशाही खाने के बदले अस्त्र संग्रह करके और संस्कृति के सुयोग के बदले साम्राज्य-गठन के प्रलोभन को पकड़कर अपना सैनिकवादी रूप दिखला रही है। एबिसीनिया को पदनत करने के लिये इटली ने जिन सब पद्धतियों का सहारा लिया है, उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगों को गहरा धक्का लगा है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और परस्पर विरोध, संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मन-चाहा बढ़ावा, लड़ाई के सामानों की तेज वृद्धि—ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना है। इस समय हम अपनी ओर से और देशवासियों की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि हम युद्ध से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाय, युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष

के योग-दान के हम घोर विरोधी हैं क्योंकि हम जानते हैं कि आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वंस हो जायगा।"

यही नहीं उन्होंने अपनी कविता में फ़ासिस्टों की बर्बरता और नग्न आक्रमण के प्रतिरोध के लिये संघर्ष का आह्वान किया। ब्रिटेन और फ्रांस की भितरघात और लीग के अलम्बदारों की उदासीनता और निष्क्रियता पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा कि

"देखिलाम एकात्नेर
आत्तघाती मूढ़ उन्मत्तत्ता, देखिनू
सर्वाङ्गे तार
विकृतिर कदर्य विदूप।
एकदिके स्पर्धित क्रूरता
मत्ततार निर्लज्ज हुँकार, अन्यदिके भीरुतार
द्विधाग्रस्त चरन विक्षेप। वक्षे आलिंगिया धरि
कृपनेर सतर्क अवलम्बन; सन्त्रस्त प्रानीर मतो
खनिक गर्जन अन्तेखीन मरे तखनि जानाय
निरापद नीरव नम्रता। राष्ट्रपति जत आछे
पौर प्रतापेर मन्त्री सभातले आदेश निर्देश
रेखे छे निष्पिष्ट करि रुद्ध ओष्ठ अधरेर चापे
संशय संकोचे॥

फ़ासिज़्म का आक्रमण और प्रबल रूप धारण करने लगा। जापान की सेना के हाथ में वास्तविक राजसत्ता आ गयी। अंध राष्ट्रोन्माद का नारा शक्तिशाली होता गया। समाचार पत्रों में एक खबर छपी कि जापानी सैनिकों के एक दल ने युद्ध की जय-यात्रा के लिये 'भगवान' बुद्ध की मूर्ति के सामने प्रार्थना की। जापानी साम्राज्यवाद की इस निर्लज्ज पाशविकता पर रवीन्द्र नाथ बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होने जापानियों पर तीव्र व्यंग करते हुये एक कविता लिखी जो 'प्रवासी' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। यह कविता बहुत प्रचारित हुई। इसकी कुछ पंक्तियाँ हैं।

"युद्धेर दामामा उठलो वेजे।
वो्देर घार होलो बाँका, चोख होलो राङ्गा,
किड़मिड कोरते लागलो दाँत।
मानुसेर काँचा माँसे जमेर भोज भरती कोरते
बेरोलो दले दले।

सबार आगे चोल लो दयामय बुद्धेर मन्दिरे
तार पवित्र आशीर्वादेर आशाय
बेजे उठलो तूरिभेरी गरगर शब्दे
कँपे उठलो पृथ्वी।
धूप जाललो, घन्टा बाजलो प्रार्थनार रब उठलो
आकाशे,
करुनामय, सफल होय, जेनो कामना :—
केनो ना वीराजे जागवे मर्म भेदी आर्त्तनाद
अभ्र भेद कोरे ;
छिड़े फेल वो घरे घरे भालो बासार
बाँधन सूत्र
ध्वजा तूलबे लुप्त पल्लीर मस्वतूपे
देवे धूलाय लूटिये विद्यानिकेतन
देवे चूरमार करे सुन्दरेर आसन पीठे।
ताइतो चोलेछे वीरा दयामय बुद्धेर निते आशीर्वाद
बे जे उठलो तुरी भेरी गरगर शब्दे
केपे उठलो पृथ्वी"

जर्मनी में फासिज़्म ने १९३५ में सारे यहूदियों को जर्मन नागरिकता से वंचित कर दिया। यहूदियों की रचनाएं जला दी गयीं। उनकी सम्पत्ति कानून बनाकर छीन ली गयी। वहाँ मानवता, कला, साहित्य और संस्कृति की हत्या कर दी गयी। इसके बाद आस्ट्रिया में तानाशाही कायम हुई। पूंजीवादी जनतंत्र के नाम पर सोशल डेमोक्रेटों ने मज़दूरों की क्रान्ति की शक्ति को ध्वंस किया। अपने विजय-अभियान को और तेज़ करने के लिये हिटलर ने चेकोस्लाविया में हस्तक्षेप शुरू किया। इसी कालावधि में कवि गुरु का जन्मदिन आ गया। उन्होंने अपने जन्मदिन पर इसी सन्दर्भ में एक कविता 'जन्मदिन' के नाम से लिखी। यह कविता 'सेंजुति' नामक पत्रिका १ मई वाले अंक में प्रकाशित हुई। इस कविता में फासिस्टों के प्रति तीव्र घृणा की अभिव्यक्ति करते हुये उन्होंने लिखा कि "खुब्ध जारा, लुब्ध जारा।"

माँस गन्ध मुग्ध जारा,
एकान्त आत्मार दृष्टि फेरा
शसानेर प्रान्तचर।
आवर्जना कुन्ड तव घेरि

वीभत्स चीत्कारे तारा रात्रि दिन करे फेराफेरी
निर्लज्ज हिंसाय करे हानाहानी
मानुष-जन्तुर हुँकार दिके दिके उठे वाजि"

यह कविता कोलिपोंग से रेडियों द्वारा प्रचारित हुई थी। कुछ ही दिनों बाद चीन की सहायता के लिये जापानी कवि नागुची से इनका पत्राचार प्रारम्भ हुआ। नागुची जापानी साम्राज्यवाद का समर्थक कवि था। यह पत्राचार विश्व इतिहास का एक दस्तावेज वन गया।

प्रिय नागुची !

आपने हमें जो पत्र लिखा है उसे पढ़कर मैं अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया। आपके साथ व्यक्तिगत घनिष्टता के नाते मैंने जापान के बारे में जो तारीफ़ सुनी थी इस पत्र के स्वर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।······फासिस्ट इटली द्वारा यूथोपिया के ध्वस्त होने की निन्दा आपने की थी लेकिन चीन पर आक्रमण के सम्बन्ध में आप दूसरे दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं।···चीन की मानवता के साथ संग्राम कर जापान ने सभ्यता के प्रत्येक नैतिक आदर्श का अतिक्रमण कर दिया है। एशिया के लिये चीन की रक्षा के नाम पर चीन की नारियों और शिशुओं पर बम बरसाना और प्राचीन मन्दिर और विश्वविद्यालयों को नष्ट करने की बात करना यह आपके द्वारा मानवता के ऊपर एक ऐसी जीवनधारा आरोपित की जा रही है यह आप की नीतियों से विचलित होना है। आप एक ऐसी एशिया की कल्पना कर रहे हैं जो नरमुण्डों के स्तम्भ के ऊपर निर्मित्त होगी। इस वीभत्स नरसंहार द्वारा तैमूरलंगका हृदय आनंदित होगा।···जापानमें मैंने "पाश्चात्य का अनुकरण" के विरुद्ध भाषण दिया था। यह वैज्ञानिक वर्बरता जिसने पश्चिमी मानवता को निगल लिया है और उसने असहाय जनता को नृशंस बना डाला है यह किसी पौरुष सम्पन्न राष्ट्र के पक्ष में, जो राष्ट्र उन्नति के रास्ते पर बढ़ रहा हो जिसके सामने विराट भविष्य की सम्भावना हो, उसके लिये यह (नरसंहार) वाली सभ्यता कभी भी अनुकरण योग्य नहीं बन सकती।···

टोकियो के एक राजनीतिज्ञ ने जो वक्तव्य दिया है उसे पढ़ कर मैं आश्चर्य चकित हो गया। उन्होंने कहा है कि इटली और जर्मनी सहित जापान की सैनिक मित्रता "उच्चतर आध्यात्मिक और नैतिक कारणों से हुई है इसके बारे में पार्थिव लाभ या क्षति का कोई प्रश्न नहीं उठता।··· यह मनोभाव सामरिक महत्त्वाकांक्षा को आध्यात्मिकता में परिणत करना चाहता है। कलाविद् और मनीषी इसको प्रतिध्वनित करेंगे।···युद्धोन्माद के

संकटपूर्ण क्षणों में अस्त्रझंकार की निन्दा अपने देश के योद्धाओं के इन कुत्सित कार्यों की भर्त्सना की जा सकती है। ऐसे महाप्राण लोगों का कभी अभाव नहीं होता। लोगोंने दुःख भोगा है किन्तु उन महापुरुषोंने अपने राष्ट्र के विवेक को कुंठित नहीं होने दिया। एशिया यदि इन व्यक्तियों से शिक्षा ग्रहण करे तो उसे पश्चिम का अनुकरण नहीं करना पड़ेगा। हमें अभी भी विश्वास है कि जापान में अभी भी कुछ महाप्राण हैं। लेकिन समाचार पत्रों में इसके बारे में कुछ भी सुनने को नहीं मिलता। क्योंकि ये समाचार पत्र अपने अस्तित्व के खत्म हो जाने की आशंका से सामरिक प्रभुओं की वाणी प्रतिध्वनित करते हैं।......चीन अजेय है। च्यांगकाई शेक के निर्भीक नेतृत्व में चीन की सभ्यता प्रभूत सम्पत्ति की ओर बढ़ेगी। अभूतपूर्व एकतावद्ध चीनी नेताओं के प्रति वहाँ की जनता की श्रद्धा चीन में एक नये युग का सूत्रपात करेगी। एक प्रचण्ड युद्ध में फँसा चीन प्रवल पराक्रम द्वारा अपनी आत्मरक्षा कर रहा है। उसकी जागरूक चेतना सामयिक पराजय के कारण तनिक भी कम नहीं होगी।......आज जापान ने वहुत से प्रेतों को जन्म दिया है......।

म्यूनिख संकट के बारे में सभी लोग जानते हैं। ३० सितम्बर १६३८ को कुख्यात म्यूनिख संधि सम्पन्न हुई। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कवि का हृदय कितना दुःखी हुआ। 'प्रायश्चित' नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्‌धृत कर रहा हूँ।

"प्रतापेर मोजे आपनारे जारा वलि कोरे छिलों दान
से दुर्वलेर दलित पिष्ट प्राण
नरमाँस करिते छे काड़ा काड़ि
छिन्न करिछे नाड़ी
तीखन दशने टानाछेड़ा तारि दिके दिके जाय वेपे
रक्त पंके धराय अंक लेपे
सेइ विनाशेर प्रचण्ड महावेगे
एक दिन शेषे विपुल वीर्ज शान्ति उठिवे जेगे

कवि गुरु ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद करके उसे चेकोस्लाविया के प्रेसीडेंट डा० वेनेस को भेजते हुए १५ अक्तुबर ३८ को एक पत्र लिखा था।

"I feel so keenly about the suffering of your people as if I was one of them, for what has happened in your country is not a mere Local misfortune which may at the

best claim our sympathy. It is a tragic revelation that the destiny of all those principles of humanity for which the peoples of west turned martyrs for three centuries vests in the hands of cowardly guardians who are selling it to save their own skins. In turns one cynical to see the democratic peoples betraying their kind when even the bullies stand by each other." हिटलर ने चेकोस्लाविया को दखल कर लिया।

इसी तरह फ्रान्स के पतन की खबर पाकर १५ जून १९४० को उन्होंने प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट को तार भेज कर अमरीकी हस्तक्षेप के लिये अनुरोध किया था। और उन्होंने २० जून १९४० को अमिय बाबू को पत्र लिखा था। उन्होंने इसी समय युद्ध के विरोध में छड़ा भी लिखा था।

'जापानेते युद्धेर दमामा
बाजाइछे बुद्धेर भक्त
कालीघाटे रेगे बोले श्यामा मा
आमि तवे काथा पाबो रक्त
कवि बोले प्रश्नेर जवाब की
पावो माइ संवाद पत्रे
रक्तेर आछे किछु अभाव कि
देश जोड़ा नरबलि सत्रे



हिटलर की मूँछ पर व्यंग करते हुए उन्होंने हास्य कविताएँ लिखी थीं।
"म्युनिके निये गेछे छाँटा गोंफ यतइ"
वोइ सोना जाय रेडियो ते बोंचा गोफेर हुमकी
देश विदेश शहर ग्रामे गला-काटार धुमकी"

फासिज़्म के विरुद्ध संग्राम तथा मानवता के पक्ष में तथा विश्व-इतिहास में रवीन्द्रनाथ की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका अमर है। और विश्व शान्ति के लिये यह हमें सतत प्रेरणा देती रहेगी। आज दक्षिणी अफ्रीका में दमन पीड़न का जो दुष्चक्र चलाया जा रहा है, अमरीकी साम्राज्यवाद और उसकी पिछलग्गू शक्तियाँ विश्व के विनाश के लिये जो मरणास्त्र तैयार कर रही हैं, उसे विफल बनाने तथा विश्वशान्ति स्थापना में रवीन्द्रनाथ से प्रेरणा लेकर हम शान्ति अभियान में विजयी बनें। यही कविगुरू रवीन्द्रनाथ के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

# श्रीनिवास शर्मा

## रवीन्द्रनाथ की प्रासंगिकता

मानव-मूल्यों के संदर्भ में साहित्य और सांस्कृतिक विरासत का मूल्यांकन कोई नयी बात नहीं। परंपरा के सही आकलन के लिए उसका परीक्षण, उसकी प्रासंगिता और मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। क्योंकि मानव जीवन के प्रतिमान अपने समय के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों से गहरे रूप में संपृक्त होते हैं।

संस्कृति का अर्थ इतिहास के साथ बदलता रहा है। कृति और कृतिकार की प्रासंगिता भी परिवर्तित हो रहे युग और समाज में नए प्रश्नों के साथ उपस्थित होती है। यही कारण है कि समाज द्वारा स्वीकृत जीवन प्रतिमानों और अवध रणाओं की कसौटी पर साहित्य को परखने और उसे मूल्यांकित करने की आवश्यकता प्रत्येक युग में पड़ती है।

रवीन्द्रनाथ ने महामानव के सागरतट पर बैठकर जिस साहित्य की सर्जना की वह अपने आप में सागर का विस्तार और गहराई लिए हुए है। उसका अवगाहन और मूल्यांकन सहज नहीं।

महाभारत काल से ही इस देश में यह धारणा बद्धमूल रही है कि भारत प्राकृतिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक ईकाई है। भारतीय मनीषा ने सभ्यता के प्रारंभिक काल से ही भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का स्वप्न देखा और अपनी रचनाओं में उसे मूर्त रूप दिया। देश की सकता, अखंडता, मानवीय प्रेम, राष्ट्रीय स्वाधीनता और विश्व-बन्धुत्व की भावना

के अमर गायक कविगुरू रवीन्द्रनाथ भारतीय संस्कृति की अन्यतम धरोहर हैं।

उन्नीसवीं शती के बंगाल में मनीषा का जो प्रबल आवेग उठा था—रवीन्द्रनाथ उस सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत बनकर उपस्थित हुए। उनका साहित्य भारत की सांस्कृतिक विरासत और जातीय चेतना के नए आयाम उद्घाटित करता है।

भारत की जिस नयी राष्ट्रीयता और नयी संस्कृति का स्वप्न उन्होंने देखा था—वह महाकवि के व्यापक युग चिन्तन और आधुनिक दृष्टिकोण का परिचायक है। उनका साहित्य नवीन युग चेतना, मानव मुक्ति, स्वाधीनता और मानव प्रेम का सन्देश देता है। महाकवि कालिदास की भाँति रवीन्द्रनाथ भी प्रेम, सौन्दर्य और मानवीय एकता के कवि हैं। भारत और विशेषकर बंगाल की जनता ने उनकी रचनाओं में देश प्रेम, स्वाधीनता और मानव-मुक्ति का सन्देश प्राप्त किया। उनकी प्रासंगिकता केवल इस बात में नहीं है कि वे प्रेम, सौन्दर्य और मानवीय एकता के कवि हैं बल्कि इस बात में है कि उनका साहित्य भारतीय जनता की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना और उसके मुक्तिकामी संघर्ष का दर्पण है।

रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्य के भौतिक और सामूहिक कल्याण की चिन्ता से युक्त है। देश-प्रेम, स्वाधीनता, साम्राज्यवाद विरोधी चेतना, मानवीय एकता और विश्व बंधुत्व की भावना की वह प्रखर अभिव्यक्ति जो उनके साहित्य में देखने को मिलती है—अन्यत्र दुर्लभ है। उनका साहित्य भारतीय संस्कृति की सामासिक चेतना, उसकी मूलभूत एकता को अपनी विविधता के साथ विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है।

रवीन्द्रनाथ तीन संस्कृतियों के मिलन-बिन्दु पर खड़े थे—प्राचीन भारतीय संस्कृति, इस्लामी संस्कृति और यूरोपीय संस्कृति। तीन संस्कृतियों के मिलन से भारत में जो नयी संस्कृति विकसित हो रही थी—महाकवि टैगोर उस नयी और अनोखी संस्कृति को अपना रहे थे। प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण और समावेश कविगुरू के साहित्य का निजी वैशिष्ट्य है।

बॉलज़ाक की तरह रवीन्द्रनाथ भी अभिजात वर्ग के थे। उन्होंने दुनिया को अभिजात वर्ग के चश्मे से ही देखा है। बॉलज़ाक ने अभिजात जीवन के खोखलेपन, पतनोन्मुख सामन्ती समाज, उसके क्षयग्रस्त जीवन-मूल्य और अन्तर्विरोधोंका जैसा धारदार चित्रण किया है—रवीन्द्रनाथने वैसा नहीं किया।

परन्तु उनकी बाद की रचनाओं में मध्यवित्त मनोवृत्ति का अतिक्रमण करने का प्रयास अवश्य देखने को मिलता है। उनका अन्तिम उपन्यास 'योगायोग' इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। 'योगायोग' में वंगीय अभिजात वर्ग के सामाजिक जीवन का अंतःचित्र उपस्थित किया गया है। यह उपन्यास बंगाल को विलुप्त हो रही सामंती शक्तियों और उदीयमान वणिक्-वर्ग के सद्यःसम्पन्न उद्धत अहंकार और परम्परागत नैतिकता के प्रश्नों को उकेरता है। चरित्र-चित्रण के सूक्ष्म कौशल और युगीन जीवन चेतना के नए यथार्थ की विशुद्ध अभिव्यक्ति के कारण यह उपन्यास भारतीय साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है।

रवीन्द्र-काव्य की शक्ति और आत्मविश्वास का मूल जीवन-प्रवाह की अविच्छिन्नता में है। देश से विराग और विदेश से अनुराग की जगह उनका साहित्य विदेश से विराग और देश से अनुराग का सन्देश देता है। रवीन्द्रनाथ स्वप्न-विलासी कलाकार नहीं—जीवन वास्तव से गहरे सरोकारों वाले कवि हैं। देश के समग्र जीवन से एकात्मकता और गहरी आत्मीयता – रवीन्द्र-काव्य की प्राणशक्ति का उत्स है।

अंग्रेज़ों के प्रति उनमें आशैशव श्रद्धा थी परन्तु अंगरेज़ी शासन और अंगरेजी साम्राज्यवाद का उन्होंने कभी भी समर्थन नहीं किया। जब कभी ब्रिटिश शासन की बर्बरता का समाचार मिलता—कवि की वाणी हुँकार कर उठती। हुँकार की यह आवाज़ बिजली की तरह देश भर में फैल जाती। विदेशी शासन और उसके दारुण कुकृत्यों की जो प्रतिक्रिया होती है और उसका विरोध जो रूप लेता है उसकी एक झलक उनके उस पत्र में देखी जा सकती है जो उन्होंने सन् १९२० में सी० एफ० एण्ड्रूज़ को लिखा था— "स्वदेशी और स्वराज्य आम तौर पर हमारे देशवासियों के मनमें तीव्र उत्तेजना पैदा करते हैं, क्योंकि उन पर पूरी तरह हावी रोष के आवेग का कुछ उत्ताप वे अपने में लिए होते हैं। इस ताप और आन्दोलन से मैं अछूता हूँ, यह नहीं कहा जा सकता। पर, जैसे भी हो अपने कवि स्वभाव के कारण, मैं उन उद्देश्यों को अन्तिम मानने में असमर्थ हूँ। ये हमसे अपने हक़ से बहुत अधिक का दावा करते हैं। एक खास बिन्दु पर पहुँचने के बाद मुझे लगता है कि अपने ही लोगों से जिनके साथ मैं काम करता रहा हूँ – अलग होने को मैं बाध्य हूँ।" इस शताब्दी के पहले दशक के अन्तिम वर्षों में राजनीतिक आन्दोलनों से नाता तोड़ लेने के बावजूद राजनीतिक हलचलों से वे अपने को अलग नहीं कर सके थे। जलियांवाला बाग के भीषण नरसंहार ने कवि

को मर्माहत कर दिया। उन्होंने अपना मौन तोड़ा और विरोध प्रदर्शित किया। सम्राट द्वारा सन् १९१६ में प्राप्त 'सर' की उपाधि को लौटाने का निश्चय करते हुए उन्होंने वायसराय को लिखा था—"अब वह समय आ गया है जब सम्मान के बिल्ले, अपमान और दमन के बेतुके संदर्भ में, हमारी लज्जा को और उजागर करते हैं। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं सभी विशिष्ट प्रतिष्ठा चिह्नों को त्याग अपने उन देशवासियों की कतार में खड़ा होना चाहता हूँ जिन्हें अपनी तथाकथित नगण्यता के कारण अमानवीय तिरस्कार भोगना पड़ता है।"

हिटलर के नेतृत्व में फ़ासिज़्म के प्रचार का उन्होंने तीव्र विरोध किया। जापानी फ़ासिस्ट कवि नागूची की उन्होंने भर्त्सना की।

रूस की यात्रा ने उनके दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन उपस्थित किया। रूस में महाकवि ने जिस समतामूलक और शोषणहीन समाजवादी समाज को देखा उससे प्रभावित हुए बिना वे नहीं रह सके। सन् ३० के आसपास प्रकाशित रूस की चिट्ठी इसका प्रमाण है। कुछ लोगों के मतानुसार सन् तीस के बाद के रवीन्द्रनाथ प्रगतिशील लेखक हैं। जो उन्हें बुर्जुआ और आभिजात्य वर्ग का लेखक मानते हैं वे भी उनके साहित्य की प्रगतिशील भूमिका से इनकार नहीं करते।

सन् १९३८ में कलकत्ता में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन सम्पन्न हुआ। रवीन्द्रनाथ इसकी अध्यक्षता करने वाले थे। अस्वस्थता के कारण उन्होने अपना लिखित सन्देश भेजा। उनका यह सन्देश उनके प्रगतिशील और जनवादी दृष्टिकोण तथा साहित्य और संस्कृति संबंधी उनकी विचार-धारा का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। "जनता से अलग रहकर हम बिलकुल अजनबी बन जायेंगे। साहित्यकारों को मनुष्यों से मिलजुल कर उन्हें पहचानना है। मेरी तरह एकांतवासी रहकर उनका काम नहीं चल सकता। मैंने एक मुद्दत तक समाज से अलग रह कर अपनी साधना में जो गलती की है, मैं उसे समझ गया हूँ और यही वजह है कि यह सन्देश दे रहा हूँ। मेरी चेतना का तक़ाज़ा है कि मानवता और समाज से लगाव रखना चाहिए और प्रेम करना चाहिए। अगर साहित्य मानवता से तादात्म्य स्थापित न कर सका तो वह अपने लक्ष्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा। यह सत्य मेरे दिल में उस चिराग की तरह रौशन है जिसे कोई दलील या तर्क-वितर्क बुझा नहीं सकता।"

साहित्य और कला संबंधी रवीन्द्रनाथ का यह उद्‌गार उनके प्रौढ़ चिन्तन का निष्कर्ष है जो अत्यंत साफ शब्दों में उनके मंतव्य को सामने रखता है।

रूस की नयी अर्थ-व्यवस्था के बारे में वे लिखते हैं—"यहाँ जो चीज़ मुझे सबसे अच्छी लगी वह है दौलत के अशिष्ट गर्व का सर्वथा लुप्त हो जाना। अकेले इसी कारण जनसाधारण में आत्म सम्मान की चेतना बेरोकटोक बढ़ी है। किसान और मजदूर जैसे दीन-हीन वर्ग, विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के घमण्ड के भारी बोझ को उतार फेंक, आज सिर उठाकर सीधे खड़े हो सके हैं। इससे मुझे जितनी खुशी हुई है उतना ही आश्चर्य भी हुआ है।

रवीन्द्रनाथ ने कई बार विदेशों का भ्रमण किया। भिन्न समाज और अर्थ-व्यवस्था वाले देशों को करीब से देखा। परन्तु रूस भ्रमण और वहाँ की नयी समाज व्यवस्था ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया।

वर्तमान शताब्दी का चौथा दशक मनुष्यता के इतिहास का काला पृष्ठ है। यही वह कालखंड है जब अंध राष्ट्रवाद, फ़ासीवाद, साम्राज्यवाद, और तानाशाही का घिनौना रूप उभर कर सामने आया। युद्धोन्मादी यूरोप संस्कृति और नैतिकता के मूल्यों को ताक पर रख कर अपने बर्बर रूप में सामने आ गया था। हिटलर जर्मन नस्ल की श्रेष्ठता पूरे विश्व पर कायम करना चाहता था। मुसोलिनी रोमन सम्राटोंके चरण-चिह्न पर चलने को उद्यत था। मनुष्यता के इतिहास का यह घोर अंधकारमय अध्याय था। रवीन्द्रनाथ विश्व की इन परिस्थितियों से बेहद उदास और खिन्न थे। उन्होंने अत्यंत तीव्र और रोष भरे शब्दों में साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद का विरोध किया। वे निराश होकर भी भीतर से टूटे नहीं थे। मनुष्य, उसके विवेक और मनुष्यता में उनकी गहरी आस्था थी। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी थे। निम्न पंक्तियों में मनुष्य के प्रति उनकी अडिग आस्था और मानवता में उनका अडिग विश्वास झलकता है—"जब मैं चारों ओर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे दंभी सभ्यता के जीर्ण खण्डहर बेकार ढेर की तरह बिखरे दीखते हैं। फिर भी, मैं मनुष्य में आस्था खोने का घोर पाप नहीं करूँगा, बल्कि यह आशा करूँगा कि इस प्रलय के बाद और जब वातावरण सेवा तथा त्याग की भावना से स्वच्छ हो जायेगा तो उसके इतिहास का एक नया अध्याय खुलेगा"। साम्राज्यवाद, शोषण, युद्ध और घृणा पर आधारित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध रवीन्द्रनाथ का साहित्य मानव प्रेम, विश्व बंधुत्व, मानवीय एकता और समानता का सन्देश देता है। यही उनके साहित्य की प्रासंगिकता है। ●